UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186240
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 491.309 Accession No. PG H 3194

Author N22P

Title नरेन्द्रनाथ आचार्य
प्राकृत भाषाओं का रूप पर

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्राकृत भाषाओं का रूप दर्शन

आचार्य नरेन्द्रनाथ
एम० ए०
काव्यतीर्थ, शास्त्री, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेद शिरोमणि, प्रतिष्ठित स्नातक (Goldmedalist)
अध्यक्ष, हिन्दी एवं संस्कृत विभाग
दयानन्द कालेज, लखनऊ

रामा प्रकाशन
नजीराबाद, लखनऊ

१९६३

प्रकाशक :: रा मा प्र का श न
नजीराबाद : : लखनऊ
मुद्रक :: बनारसी दास मेहरोत्रा
रामा प्रेस : : लखनऊ
मूल्य :: आठ रु प ये

एकलब्य-सम एक लक्ष्य धर
सतत साधना के पथ पर
पावन पा पाथेय 'गुप्त' ही
बढ़ें सदा जीवन-पथ पर।

॥ श्री वाक् पतये नमः ॥

अहो तत् प्राकृत हारि प्रिया वक्त्रेन्दु सुन्दरम् ।
सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधा निष्यन्द निर्झराः ॥

× × × ×

संस्कृताद् प्राकृतं श्रेष्ठं ततो ऽपभ्रंश भाषणम् ॥

× × × ×

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तद् तद् देशेषु भाषितम् ।

× × × ×

व्याकर्तुं प्राकृतत्वेन गिरः परिणति गताः ॥

प्रस्तावना

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास तथा प्रसार में प्राकृत भाषायें निश्चित शृंखलायें हैं। इतिहास के निर्माण में आदि मध्य एवं अवसान की सभी घटनायें परस्पर अनुस्यूत होती हैं। प्रत्येक भाषा की शब्दावली स्वयं अपने स्वरूप में एक विस्तृत इतिहास है। शब्दों के स्वरूप सतत परिवर्तित होते रहते है और व्यक्ति अपनी सुविधानुसार उनका रूप बोलियों में विकृत अथवा परिष्कृत कर लेता है।

संस्कृत साहित्य के रूपकों तथा उपरूपकों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची तथा मागधी प्राकृतों का प्रयोग परम्परा से होता चला आया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक नाटककार संस्कृत के साथ ही साथ इन प्राकृत भाषाओं का भी पूर्ण ज्ञान उपलब्ध करता था। प्राकृत भाषाओं का संस्कृत से अधिक साम्य है। प्रतीत होता है कि प्राकृतजनों में उच्चारण के भेद से एक ही शब्द के अनेक रूप प्रचलित हो गये और उनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा। कालान्तर में उन शब्दों को कुछ नियमों में बाँधा गया और उन्हीं नियमों को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के नाम से व्यवहृत हुए।

संस्कृत के द्वादश के स्थान पर हम सम्प्रति हिन्दी भाषा में बारह का प्रयोग तो करते हैं पर यह बारह द्वादश से किन रूपों द्वारा अपने वर्तमान स्वरूप में आया इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। इसी प्रकार षष्ठी से छट्ठी फिर छट्ठी से छठी कैसे परिवर्तित हुए? इन रूपों को किस प्रकार तथा किस क्रम से वर्तमान रूप प्राप्त हुआ? इसके सम्बन्ध में हिन्दी में शास्त्रीय शैली पर लिखी गई कोई मौलिक पुस्तक नहीं थी। उधर उपाधि कक्षाओं में अध्ययन करने वाले छात्रों की यह उत्सुकता कि 'वृश्चिक' का

'विच्छुओ' रूप किन नियमों से हो गया अथवा 'भवति' का 'होइ' रूप कैसे बना, आदि इस बात के लिये प्रेरित करते थे कि छात्रों एवं अपने मान्य विद्वानों के हाथों में हिन्दी भाषा में एक ऐसी पुस्तक समर्पित की जाय जिससे कि उनके औत्सुक्य तथा कौतूहल का कुछ शास्त्रीय समाधान हो सके। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का यही प्रयोजन है।

इस पुस्तक में प्राकृत भाषाओं का विवेचन वररुचि के प्राकृत प्रकाश के आधार पर ही किया गया है, क्योंकि उनका यह ग्रन्थ प्राकृत व्याकरण का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

आशा है विज्ञ पाठक इस ग्रन्थ से कुछ साहित्यक रसास्वाद अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि :—

आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्।

दीपमालिका
(१९६१)

विदुषां वशंवद :—
नरेन्द्रनाथ

विषय-सूचिका

		पृष्ठ संख्या
१	प्रस्तावना	५
२	प्राकृतिक भाषाओं की उत्पत्ति–विभिन्न मत	१
३	प्राकृतिक भाषाओं के भेद	९
४	प्राकृतिक भाषाओं का साहित्यक संविधान	१७
५	रूप-सिद्धि	२१
६	प्राकृत शब्द-सिद्धि	२५
७	प्राकृत भाषाओं में सर्वनाम, निपात, कारक तथा क्रियायें	१३३
८	प्राकृत भाषाओं का उद्‌भव, वैशिष्ट्य एवं साहित्य	१९३
९	वररुचि प्रणीत प्राकृत प्रकाश के सूत्र तथा उनके अर्थ	२०७

प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति--
विभिन्न मत

आन्तरिक रमणीयता बाह्य सौन्दर्य सापेक्ष्य अवश्य होती है। कला की पूर्णता तथा महत्ता यही है कि वह अनुभूत्यात्मक हृदय की कोमल भावनाओं के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर सके। यही रूप-संविधान चित्त तथा इन्द्रियों की वृत्तियों को स्वाभिमुख आकृष्ट करता है। हृदय के आह्लाद के लिये वस्तु-स्वरूप तथा वस्तु-संविधान दोनों ही आवश्यक हैं। उपपत्ति के लिये नितान्त आवश्यक है कि उसका समुचित उपस्थान भी किया जावे। धूलि में पड़ा हुआ गुलाब का कोमल कुसुम, कबरी-श्रंखला में ग्रथित होकर ही अधिक हृद्य तथा रम्य प्रतीत होता है। गन्दे तालाब के किनारे आसीन चक-पंक्ति, श्याम-घन-घटाओं में उड़ती हुई बक-पंक्ति का सन्तुलन कैसे कर सकती है? स्वर्णकार अपनी कल्पनाओं की उपपत्ति को मणि-काञ्चन के उपस्थान से ही आभिरामिक बनाता है।

कुशल शिल्पी की मानसिक अनुभूत्यात्मक आकृति तक्षण-कला के द्वारा जिस रूप का संविधान करती है उसके लिये समुचित तथा व्यवस्थित उपकरण भी उपादेय होते हैं। चित्रकार भी तूलिका, रंग पट एवं अन्यान्य उपकरणों के साहाय्य से ही अपनी कृति को कुशलता पूर्वक उपन्यस्त करता है। साध्य की सिद्धि के लिये साधन-सम्पन्नता नितान्त आवश्यक है।

साहित्यिक कलाकार भी भावाभिव्यक्ति के लिये प्रमुख रूप से भाषा के ही आश्रित होता है। भाषा विचारों तथा अनुभूतियों को केवल आकार ही प्रदान नहीं करती प्रत्युत उनको अन्य संवेद्य भी बनाती है—साथ ही स्थायित्व भी प्रदान करती है।

जिस भाषा के माध्यम से व्यक्ति अपनी शैशवावस्था से ही कुछ सोचता, समझता या विचार करता है या जिस भाषा के द्वारा मातृगर्भ से वियुक्त होने पर मन में संस्कारों का अदृश्य रूप से संचय करता रहता है वही उसकी मातृ-भाषा कहलाती है। जो बोली उसके वातावरण को प्रभावित करती है वह उसको भी अवश्य प्रभावित करती है और वह स्वयं उसी भाषा में अपने आप सोचता विचारता भी है। यही उसकी स्वाभाविक भाषा बन जाती है।

जन साधारण, अशिक्षा के कारण, स्वाभाविक तथा सरल उच्चारण के कारण तथा संक्षेप की प्रवृत्ति अथवा प्रयत्न लाघव के कारण भाषाओं के मूल शब्दों के भिन्न-भिन्न उच्चारण करता है। यह प्रक्रिया निरन्तर प्रवाहित रहती है और इस प्रकार अनेक शब्द तथा ध्वनियां बनती और बिगड़ती रहती हैं।

साधारण मनुष्य भाषा के सरल से सरल तथा मधुर रूप के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति चाहता है। भाषाओं के शुद्ध रूपों तथा व्याकरण सम्मत प्रयोगों की वह अपेक्षा नहीं करता और इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति चाहे कुछ भी हो उससे उसको विशेष प्रयोजन नहीं होता। वह तो उस मूल प्रकृति से निष्पन्न प्राकृत शब्दों का ही प्रयोग करता है। वे ही सुगम, सरल तथा मधुर प्रतीत होते हैं। जो पद बिना किसी विशेष प्रयत्न तथा बनावट के स्वयं निकलते हैं उन्हीं का प्रयोग किया जाता है। शास्त्रीय, वैज्ञानिक शुद्ध प्रयोग लोक भाषा में न्यून ही होता है। इस प्रकार शब्दों की मूल प्रकृति से सम्बन्धित अनेक प्राकृत-पदों का निर्माण होता है।

कालान्तर में इन प्राकृत प्रयोगों को मूल प्रकृति मान कर इनसे भी अनेक अपभ्रंश या देशी पद बनते रहते हैं और इस प्रकार एक ही शब्द के अनेक रूप समय समय पर बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन परिवर्तनों के अनेक कारण होते हैं—उच्चारण की सुगमता ही इनमें प्रधान कारण है।

भारतीय आर्य शाखा की वैदिक भाषा ही कालान्तर में संस्कृत में परिणत हुई और वही पुनः प्राकृत, अपभ्रंश आदि रूपों को धारण करती हुई देशी भाषाओं के रूप में ही प्रचलित हुई है ऐसा ही विचार आर्य जाति की भाषा के सम्बन्ध में है। हजारों वर्षों के उपरान्त आजकल हिन्दी की बोलियों में प्रचलित शब्दों का मूल प्रकृति से चाहे प्रत्यक्ष सम्बन्ध न प्रतीत होता हो परन्तु ऐसे अनेक शब्द हैं जो आज भी इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि बाह्य रूप के परिवर्तित हो जाने पर भी उनके अन्दर मूल प्रकृति का आभास अवश्य मिलता है।

वेदों में वैश्वानर अग्नि का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। उपनिषद् काल में वैश्वानर विद्या आध्यात्म सम्बन्धी एक विशेष विद्या थी जिसका अध्ययन तथा अध्यापन भी होता था। उत्तर भारत में विशेषकर अवध प्रान्त में अग्नि में किन्ही पदार्थों को हवि के रूप में डालने को 'बसन्दर' करना कहते हैं। बसन्दर का निश्चय ही वैश्वानर से कुछ अवश्य आत्मीय सम्बन्ध प्रतीत होता है। न केवल ध्वनि या स्वर साम्य से अपितु भाव साम्य

से भी क्योंकि जिस भावना को वेदों का वैश्वानर द्योतित करता है उसी को किसी न किसी रूप में 'बसन्दर' भी करता ही है। आज बसन्दर देशी भाषा का शब्द हो गया है। इस प्रकार शब्द स्वत: घिसते मंजते रहते हैं। कभी-कभी आवश्यकतानुसार रूप का आमूल परिवर्तन हो जाता है और यदि मूल प्रकृति के उच्चारण में कुछ कैंठिनता होती है तो नया रूप ही मूल प्रकृति धारण कर लेती है।

अस् धातु का जिस अर्थ में प्रयोग वैदिक भाषा में होता था आज उसी को हम, हवै या है के रूप में पाते हैं। युष्माकम् का तुम्हार होना इसी पूर्ण रूप परिवर्तन को प्रकट करता है। इसी प्रकार अनेक शब्द देशी भाषाओं में आज भी अपनी मूल प्रकृति के साथ विद्यमान हैं।

इन परिवर्तित रूपों के कारण जो नवीन बोलियां या भाषायें समय-समय पर लोक में प्रचलित हो जाती हैं। कालान्तर में वैयाकरण उनके लिये एक नियम की, एक रूपता की व्यवस्था करते हैं। वे किसी नवीन भाषा को निर्मित नहीं करते अपितु प्रचलित भाषा की स्वरूप व्यवस्था ही करते हैं।

इन्हीं प्राकृत भाषाओं में अत्यन्त उत्तम तथा उच्च कोटि का साहित्य भी निर्मित हुआ है। लोक में प्रचलित भाषा में निर्मित साहित्य नागरिकों तथा साहित्यिक व्यक्तियों के लिये भले ही अरुचिकर तथा स्वारस्य रहित प्रतीत हो पर लोक में वही सुरुचिपूर्ण और रमणीय होता है। किसी भी देश की अथवा जाति की कुछ विशिष्ट रुचियां अथवा प्रवृत्तियां होती हैं उनके लिये किसी कारण विशेष का ज्ञात करना दुष्कर होता है।

वर्तमान अंग्रेजी भाषा में त, द छ, झ, ञ, ङ, ठ, ढ, ण, ध्वनियां नहीं है फिर भी प्रयोग तथा व्यवहार की दृष्टि से भाषा में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं प्रतीत होता। वर्तमान हिन्दी में भी ज् श् ख् ज् तथा स्वरों की पड़ी हुई ध्वनियां, नहीं हैं पर भाषा के प्रवाह में विशेष अड़चन नहीं। इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं सर्वत्र न् ध्वनि के स्थान पर ण् का होना, ङ् की ध्वनि का अभाव, ट् को ठ होना, य का सर्वत्र ज् होना आदि ऐसी प्रवृत्तियां हैं जो उस समय की प्रवृत्ति तथा रुचि का निर्देश करती हैं और इनके अभाव में भी भाषा का सौन्दर्य विकृत नहीं होता। प्राकृत भाषाओं के अभ्युदय के काल में नयनम् को 'णअणं' कहना नगरम् को 'णअरं' नदी को 'णई' निद्रा को 'णिद्दा' कहना ही मधुर तथा सरल प्रतीत होता था। यज्ञ का रूप 'जण्णो' प्रचलित था। युधिष्ठिर का 'जहिट्ठिलो' रूप इस समय अनभ्यास के कारण

भले ही सुन्दर न प्रतीत हो पर प्राकृत भाषाओं में यही रूप मधुर तथा रुचि पूर्ण था।

इस प्रकार समय-समय पर प्रत्येक देश तथा काल में भाषाओं के रूप विधानों में इसी प्रकार के परिवर्तन होते रहे हैं। ये परिवर्तन, लोक रुचि को ही प्रकट करते हैं क्योंकि यदि लोक इनको स्वीकार न करे तो इनका प्रचलन ही नहीं हो सकता।

इसी आधार पर किसी कवि ने

"अहो तत्प्राकृतं हारि प्रिया व क्त्रेन्दु सुन्दरम्।
सूक्तयो यत्र राजन्ते सुधा निष्यन्द निर्झराः"

अर्थात् स्नेहमयी प्रियतमा के चन्द्र रूपी मुख के समान वह प्राकृत भाषा आकर्षक तथा मनोहर है, जिस प्राकृत भाषा में अमृत के प्रवाह के निर्झरों के समान सुन्दर सूक्तियां प्रकाशित रहती हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं में भी ललित एवं मधुर साहित्य की न्यूनता नहीं है। अतः इन भाषाओं का पठन पाठन भी सहृदय भावुकों के लिये वाञ्छित है।

नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार

"नाना देश समुत्थ हि काव्य भवति नाटके"

अर्थात् नाटकों में भिन्न-भिन्न देशों में निर्मित काव्य अवश्य होता है। यह भी असन्दिग्ध ही है कि जिस देश में जिस काव्य की रचना होती है वह उस देश की भाषा में ही होती है यदि वह रचना लोक साहित्य से सम्बन्धित है। साधारणतः कवि यदि वह अधिक विद्वान् तथा बहुश्रुत नहीं है तो उसको अपने देश की भाषा में काव्य रचना करने में सरलता होती है और इस प्रकार नाटकों में नाना प्रकार की बोलियों तथा भाषाओं के व्यवहार से यह आवश्यक था कि साधारण व्यक्ति अन्य देशों की भाषाओं से भी अवगत अवश्य होते क्योंकि यदि केवल नाटक में काम करने वाले पात्र ही रट रटाकर इन का प्रयोग करते होते तो दर्शक वृन्द को नाटक के समझने में अत्यन्त असुविधा होती। अतः प्राकृत भाषाओं का ज्ञान साहित्यक भाषा (संस्कृत) के साथ ही साथ चलता था।

वर्तमान समय में भी नगरों में बोली जाने वाली नागरी (हिन्दी) में यदि कोई नाटक लिखा जावे और उन नाटकों में यदि ग्रामीण क्षेत्र के व्यक्ति भी कुछ अभिनय करें तो यदि वे शुद्ध नागरी का उच्चारण करते हैं तो यह अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है अतः वे लोग ग्रामीण क्षेत्र में प्रचलित हिन्दी

की बोलियों का ही प्रयोग करते हैं और यह स्वाभाविक भी है। जैसे 'मुझे क्या करना है' इस वाक्य को बैसवाड़ी बोली में 'मोंहिका का करै का है' यही ग्रामीण व्यक्ति के मुख से अधिक उपयुक्त होता है और इस वाक्य को समझने वाले दर्शक वृन्द भी इस बोली से अवश्य अवगत होने चाहियें।

संस्कृत को मूल प्रकृति मानकर उनसे ही भिन्न-भिन्न पदों, ध्वनियों तथा रूपों का निर्माण होता है। वही भाषाओं का प्राकृत पाठ है ऐसा विचार भरत मुनि का है—

"एतदेव विपर्यस्तं संस्कार गुण वर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नाना वस्थान्तरात्मकम्।"

अर्थात् मूल प्रकृति संस्कृत के पदों को विपर्यस्त करके आगे के वर्ण को पीछे, पीछे के वर्ण को आगे मध्य के वर्णों को आगे पीछे करके भिन्न-भिन्न प्रकार से बोलना प्राकृत पाठ कहलाता है। जैसे लखनऊ, को नखलऊ, अमरूद को अरमूद, रिक्शे को रिस्का आदि विपर्यस्त पाठ हैं। यह प्राकृत पाठ संस्कारों अर्थात् शुद्ध उच्चारण, स्थान तथा प्रयत्नों द्वारा शुद्ध प्रयोग अथवा स्वरादि गुणों से रहित होता है। जैसे लेफ्टिनेन्ट का लपटन या लपटन्ट, लैन्टर्न का लालटेन टिकट का टिक्कस आदि संस्कारों से रहित प्रयोग लोक में प्रचलित हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न प्रयोग प्रतिदिन हम किया ही करते हैं। दादा, दद्दा, ददुआ, भाई, भैय्या, भैवा, भायल प्रयोग एक दादा तथा भाई के लिये अपनी मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप होते रहते हैं। भरत मुनि के अनुसार ये सब प्रयोग एक ही मूल प्रकृति से सम्बन्धित होने के कारण प्राकृत शब्दों की कोटि में आ सकते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने इन प्राकृत प्रयोगों के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए लिखा है कि —

'दैवांवाक् व्यवकीर्णेयम शक्तैरभि धातृभिः'

अर्थात् दैवीवाक् (अमर भारती या संस्कृत भाषा) अशक्त कहने वालों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विस्तार या फैलाव को प्राप्त होती है। अशक्ति से यही तात्पर्य है कि साधारण जन, शिक्षा के अभाव और अभ्यास के न होने से शब्द की मूल प्रकृति से परिचित नहीं होते और न वे उनके शुद्ध प्रयोगों को ही जानते हैं अतः अपनी सुविधा के अनुसार उन शब्दों का व्यवहार करने लगते हैं और फिर क्रमशः जन साधारण में उन्हीं का प्रयोग अथवा व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार केवल अशक्ति अथवा शुद्ध प्रयोग के असामर्थ्य के कारण शब्दों के विविध रूप प्राकृत शब्द से कहे जाते हैं।

इन प्राकृत शब्दों के लालित्य तथा माधुर्यके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार धारायें हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि तो इस प्रकार के विकृत शब्दों के प्रयोग के सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होते हैं। वे तो इस प्रकार के रूपों को शब्द कहने में भी संकोच करते हैं। उन्होंने इनको अपशब्द की संज्ञा दी है और उनके विचार से इन अपशब्दों के प्रयोग से अधर्म भी होता है।

"यथैव हि शब्द ज्ञाने धर्मः, एवमपशब्द ज्ञाने प्यधर्मः। अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः। अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिके त्येवमादयोऽपभ्रंशाः"

अर्थात् जैसे शब्दों के भली प्रकार जानने में धर्म होता है इसी प्रकार अपशब्दों के जानने में अधर्म होता है, यही नहीं धर्म की अपेक्षा अधर्म अधिक होता है क्योंकि शब्द कम हैं और अपशब्द बहुत अधिक हैं, एक ही शब्द के बहुत से **'अपभ्रंश'** होते हैं जैसे गौः इस शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपो तलिका आदि अपभ्रंश रूप पाये जाते हैं। इस प्रकार पतञ्जलि प्राकृत पदों के प्रयोग के पक्ष में नहीं प्रतीत होते।

पर एक दूसरे आचार्य का विचार है कि—

'संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततो ऽपभ्रंश भाषणम्'

अर्थात् संस्कृत से प्राकृत श्रेष्ठ है और प्राकृत से भी अपभ्रंश भाषा अधिक मधुर तथा श्रेष्ठ है।

वृद्ध वाग्भट्ट अपभ्रंश शब्दों को अशुद्ध या अपशब्दों के रूप में नहीं स्वीकार करते और अपभ्रंश शब्द से उन भाषाओं का ग्रहण करते हैं जो अपने अपने देशों में बोली जाती थीं—

'अपभ्रंशं स्तुयच्छुद्धं तत्तद् देशेषु भाषितम्'

अर्थात् शुद्ध अपभ्रंश वह भाषा है जो अपने अपने प्रान्तों या देशों में बोली जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश पदों के प्रति जो घृणा महाभाष्यकार की थी वह वृद्ध वाग्भट्ट की नहीं है और वे अपभ्रंश को भी शुद्ध ही मानते हैं।

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में महाराष्ट्री प्राकृत को आदर्श प्राकृत भाषा के नाम से सम्बोधत किया है—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः"

महाराष्ट्र प्रदेश की प्राकृत आदर्श प्राकृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं के प्रति आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ ही प्रतीत होता है। यदि ये

प्राकृत भाषाएं मधुर तथा लोकप्रिय न होतीं तो भरत मुनि कदापि नाटकों में इनके प्रयोग की अनुमति न देते और न संस्कृत नाटकों में इनका व्यवहार ही पूर्ण रूप से किया जाता।

प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में एक विचार धारा और भी है। इस विचार धारा के व्यक्ति प्राकृत भाषाओं को मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव से सिद्ध भाषायें स्वीकार करते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रारम्भ में ये ही भाषाएं मनुष्य द्वारा बोली जाती थीं और उन्हीं का कालान्तर में वैयाकरणों ने संस्कार करके संस्कृत भाषा को जन्म दिया। प्रत्यक्ष रूप से वैदिक भाषा से इनका सम्बन्ध अनेक विद्वानों ने स्थापित किया है और प्राकृत भाषाओं के कतिपय पदों तथा रूपों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि प्राकृत भाषाएं संस्कृत भाषा से पूर्व की हैं और इनका अधिक सम्बन्ध संस्कृत से न होकर वैदिक भाषा से है।

अम्हे, अस्मे, हवि, हुं, त्तन्, त्वन् आदि प्रत्ययों की तथा पदों की प्रवृत्ति दोनों में प्राप्त होती है। लिङ्ग, वचन तथा विभक्तियों की प्रवृत्ति (व्यत्यय-चतुर्थी को षष्ठी द्वितीया को प्रथमा आदि) दोनों भाषाओं (प्राकृत तथा वैदिक) में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं के द्वारा ही संस्कृत (संस्कार की गई) की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं पर ये दोनों ही विचार धारायें (प्राकृत से संस्कृत की उत्पत्ति और प्राकृत भाषाओं की वेद मूलकता) संस्कृत के वैयाकरणों को मान्य नहीं है और वैसे भी प्राकृत को स्वभाव से सिद्ध मानना तर्क रहित है क्योंकि यह स्वभाव कौन सा है और कैसा है जो मनुष्यों में स्वभाव से रहता है फिर उस स्वभाव से अंग्रेजी फ्रेञ्च या जर्मन भाषायें क्यों नहीं बन जातीं क्योंकि स्वभाव तो मनुष्य का सभी जगह होता है केवल प्राकृत भाषाओं में ही स्वभाव क्यों तथा कैसे सीमित हो गया?

यदि प्राकृत भाषाएं ही पूर्व में थीं तो पाणिनि कात्यायन, तथा पतञ्जलि आदि वैयाकरणों ने इन पूर्ववर्ती भाषाओं पर कुछ भी प्रकाश क्यों नहीं डाला तथा इनका व्याकरण भी क्यों नहीं लिखा गया? पाणिनीय व्याकरण की अपूर्णता भी माननी पड़ेगी। साथ ही जहां वैदिक भाषाओं के निघण्टु निरुक्त तथा व्याकरण बने उन्हीं के साथ इन प्राकृत भाषाओं का निर्वचन आदि क्यों नहीं किया गया? यह भी प्रश्न है कि प्राकृत भाषाएं तो भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न हैं पर संस्कृत भाषा प्रायः सर्वत्र एक ही प्रकार के नियमों से आबद्ध है फिर किस प्राकृत भाषा को लेकर इस संस्कार की गई भाषा का नाम संस्कृत रखा गया? पाणिनि ने जहां संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखा है

वहां वैदिक भाषा के व्याकरण की भी उपेक्षा नहीं की है और वैदिक प्रयोगों की भिन्नता का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। ऐसी दशा में पाणिनि का प्राकृत भाषाओं से क्या वैमनस्य था ? क्यों नहीं इन भाषाओं का उल्लेख किया ? इन बातों से यह निश्चय है कि प्राकृत भाषायें मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव के आधार पर निर्मित नहीं हुईं।

प्राकृत व्याकरण के आचार्यों, वररुचि मार्कन्डेय आदि ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में इन प्राकृत भाषाओं की मूल प्रकृति संस्कृत को स्वीकार किया है—

स्वयं वर-रुचि ने पैशाची और मागधी की मूल प्रकृति शौरसेनी को माना है और शौर सेनी की मूल प्रकृति संस्कृत है यह भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है फिर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सभी प्राकृतों की प्रकृति संस्कृत ही है यही सिद्धान्त रूप से स्वीकृत किया गया है—

प्राकृत मञ्जरीकार ने भी स्वयं लिखा है कि—

"व्याकर्तुं प्राकृत त्वेन गिरः परिणतिं गताः"

अर्थात् प्राकृत रूप में विशद विवेचन करने के कारण वाणी या संस्कृत पूर्णता को प्राप्त हुई अर्थात् भाषाओं के विकास के क्रम में देवगिरा या संस्कृत ही विकसित होकर प्राकृत भाषाओं का स्वरूप ग्रहण कर सकी। इस प्रकार इन प्राकृत भाषाओं की मूल प्रकृति संस्कृत ही स्वीकार की गई है। इसी सम्बन्ध में गीत गोविन्दकार जयदेव की यह उक्ति भी विचारणीय है कि—

संस्कृतात् प्राकृतम् इष्टं ततो ऽ पभ्रंश भाषणम्"

अर्थात् मूल संस्कृत से प्राकृत अधिक अभिप्रेत है और उससे भी अधिक मनोनीत अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता है। प्राकृत भाषाओं के अद्यावधि जितने भी व्याकरण उपलब्ध होते हैं उनमें सब में संस्कृत को ही प्राकृत भाषाओं की प्रकृति माना गया है और संस्कृत के तिङन्त, कृदन्त, लिङ्ग, वचन प्रत्यय नाम तथा सर्वनामों को ही आधार मान कर उनमें विकार दिखाया गया है। इस प्रकार 'प्राकृतादागतम् प्राकृतम् 'अथवा प्रकृते' भंवम् प्राकृतं कोई भी विवेचन किया जावे सबका आशय यही है कि इन प्राकृत भाषाओं का विकास मूल संस्कृत भाषा से ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों में हुआ क्योंकि सभी प्रान्तों में संस्कृत समान रूप से तथा एक रूप से प्रचलित थी। लोक ने अपनी सुविधा के अनुसार उनका विकृत अथवा विकसित रूप निर्मित किया और कालान्तर में उनका कोई अन्य सामान्य नाम न होने से प्राकृत नाम ही उचित समझा गया और अपने प्रान्त का नाम निर्देश कर महाराष्ट्री, शौर सेनी, मागधी और पैशाची आदि नाम दिये गये।

प्राकृत भाषाओं के भेद

व्याकरण के जटिल नियमों तथा पदो के क्लिष्ट साधनों के कारण संस्कृत भाषा जनता के सम्पर्क से दूर होती गई। यदि कोई भूल से भी किसी अशुद्ध प्रयोग का व्यवहार कर देता था तो वह पन्डितों तथा विद्वानों के मध्य निन्दा एवं उपहास का पात्र होता था। यहां तक कि अर्धस्वर का भी विकृत पाठ संस्कृत के विद्वानों को क्षम्य नहीं था। कोई भी अन्य शूद्र जातीय संस्कृत में धर्म ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकता था। साधारण जनता को संस्कृत के पढ़ाने में भी ब्राह्मण वर्ग कुछ उत्सुक नहीं था। संस्कृत के व्याकरण के नियमों के प्रतिपादन करने वाले पाणिनि के सूत्रों में अर्ध मात्रा का लाघव भी वैयाकरण सहन नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में भाषा को ऐसे जटिल नियमों से बांध दिया गया कि जिससे वह पूर्ण रूप से अस्पृश्य हो गई। कोई उसे छूने का भी दु:साहस नहीं करता था न वह किसी को छूती थी और न उसे कोई छूता था। ऐसी दशा में वह पर्ण रूप से विशुद्ध तो बनी रही पर क्रमश: उसका विस्तार तथा प्रसार अत्यन्त सीमित और परिमित हो गया उसका पठन पाठन कुछ थोड़े से जन्म जात ब्राह्मण वर्ग में ही अवच्छिन्न रह गया।

जनता के लिये किसी भाषा का होना तो आवश्यक था। उसने ब्राह्मणों की चिन्ता नहीं की। उनकी वाणी संस्कृत को भी उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा दूसरे शब्दों में उसे भी छूत कर दिया और जो भी प्रयोग उस प्राकृत शब्द का उनको अधिक सुगम तथा सुन्दर प्रतीत हुआ उसी का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। एक ही शब्द के एक ही प्रान्त में अनेक रूप प्रचलित हुए और वे सभी जनता में प्रयुक्त हुए। प्रयोग के समय किन्हीं विशेष नियमों का ध्यान नहीं रखा गया और केवल मुख-सुख ही प्रधान कारण रहा। इस प्रकार संस्कृत के स्थान पर जनता ने अपनी गढ़ी हुई भाषा का बिना किसी संकोच के प्रयोग किया। कालान्तर में अपने अपने प्रान्तों में ये भाषाएं जब अच्छी प्रकार से प्रयुक्त होने लगीं और उनके द्वारा सामान्य भावावबोध भी होने लगा तब इन प्रयोगों के नियमों का निर्द्धारण हुआ और प्रयोगों अथवा पद रूपों को देखकर व्याकरण के ग्रन्थ रचे गये।

प्रान्त के भेद से ही प्राय: इन प्राकृतों का वर्गीकरण किया गया। प्राकृत प्रकाश के कर्ता वररुचि ने जिनका दूसरा नाम कात्यायन भी था इन भाषाओं का प्रामाणिक व्याकरण लिखा। उन्होंने इन प्राकृत भाषाओं के चार भेद स्वीकार किये हैं—

१—प्राकृत
२—मागधी
३—शौरसेनी
४—पैशाची

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राकृत प्रकाश में पैशाची तथा मागधी की मूल प्रकृति शौरसेनी को स्वीकृत किया है और शौरसेनी की मूल प्रकृति संस्कृत मानी है। शौरसेनी प्राकृत के विशिष्ट कार्यों का उल्लेख उन्होंने किया है और शेष कार्य प्राकृत के अनुरूप होता है यह स्वीकार किया है।

पैशाची, मागधी तथा शौर-सेनी की प्राकृत संज्ञा इसी लिये दी गई है कि उनके सभी प्रयोग प्राकृत के अनुरूप होते हैं। महाराष्ट्र प्रान्त प्राकृत भाषाओं के काल में सर्व प्रमुख प्रतीत होता है। महाराष्ट्र की संज्ञा मराठों से सम्बन्धित है? अथवा किसी महान् राष्ट्र की द्योतिका है? इसमें विद्वानों में मत भेद है। हो सकता है कि मराठों के उत्कर्ष के कारण उनका राज्य उत्तर भारत में भी हो गया हो और उस राष्ट्र में जो भाषा सामान्य रूप से प्रचलित थी उसी को प्राकृत के नाम से कहा जाने लगा हो पर प्राकृत भाषाओं के विकास के समय मराठों के इस प्रकार के राज्य विस्तार का कोई इतिहास सम्मत प्रमाण नहीं है और न उस जाति का कोई अलग राष्ट्र ही स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार प्राकृत वह भाषा थी जो शूरसेन, मगध, तथा पिशाच प्रान्त को छोड़ कर सामान्य रूप से सम्पूर्ण देश में बोली जाती थी उसी को प्राकृत के नाम से कहा गया है। हो सकता है कि वह प्रदेश क्षेत्र की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत हो अत: उसे महाराष्ट्र की संज्ञा दे दी गई हो। वररुचि ने अपने प्राकृत प्रकाश में जिस भाषा के नियमों का निर्धारण किया है वह महाराष्ट्री ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है क्योंकि शौरसेनी प्राकृत के नियमों का निर्धारण करते हुए विशेष नियमों का संकलन तो कर दिया है और शेष के लिये लिखा है कि "शेषं महाराष्ट्रीवत्" अर्थात् शौरसेनी प्राकृत के शेष अनुक्त कार्य महाराष्ट्री के समान समझने चाहियें। इस प्रकार वर रुचि की प्राकृत महाराष्ट्री ही है इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार वररुचि ने प्राकृतों का वर्गीकरण (१) प्राकृत (महाराष्टी) (२) पैशाची (३) मागधी (४) शौरसेनी इन चार में किया है।

हो सकता है कि महाराष्ट्र प्रान्त में बोली जाने वाली प्राकृत अपने रूप तथा माधुर्य में अत्यन्त श्रेष्ठ हो अत: उसी को मौलिक मानकर उसको प्राकृत की ही संज्ञा दे दी गई हो क्योंकि उसी में मूल प्रकृति संस्कृत की विशिष्टता थी और उसी में संस्कृत के रूपों का नियमबद्ध तथा सामान्य परिवर्तन हुआ हो। महाकवि दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में महाराष्ट्री के प्रति यही विचार व्यक्त किये हैं।

"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदु"

अर्थात् महाराष्ट्र प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा उत्कृष्ट प्राकृत जानी जाती है। उस प्रान्त की प्राकृत अन्य प्रान्तों के प्राकृत से अत्यन्त उत्कृष्ट थी अत: वररुचि ने उसी को प्राकृत की संज्ञा दी है।

हेमचन्द्र जिन्होंने अपभ्रंश भाषाओं का विस्तृत विवेचन अपने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ में किया है प्राकृत भाषाओं के ३ भेद और स्वीकृत किये हैं और वे (१) चूलिका पैशाचिका (२) आर्ष प्राकृत (३) अपभ्रंश हैं। इस प्रकार उनके मत से प्राकृतों के—

१—प्राकृत
२—पैशाची
३—चूलिका पैशाची
४— मागधी
५—आर्षी
६—शौरसेनी
७—अपभ्रंश

ये सात भेद हैं —यह आर्ष प्राकृत ही अर्ध मागधी है जो जैन साधुओं की सम्भाषित भाषा है।

प्राकृत सर्वस्वकार श्री मार्कन्डेय ने अपने ग्रन्थ में भाषाओं के तथा उनके अवान्तर भेदों के तेतालीस भेद स्वीकृत किये हैं। प्रथम भाषाओं के चार भेद हैं।

१—भाषा
२—विभाषा
३—अपभ्रंश
४—पैशाची,

इनमें भाषा के पांच भेद है—

१—महाराष्ट्री

२—शौर-सेनी

३—प्राच्या

४—अवन्ती

५—मागधी

अर्ध मागधी को मागधी के अन्दर ही परिगणित किया गया है।

विभाषा के भी पांच भेद हैं—

१—शाकारी

२—चाण्डाली

३—शाबरी

४—आभारिकी

५—शाक्वी (शारवी)

अपभ्रंश के २७ भेद स्वीकृत किये हैं इनमें आर्द्री तथा द्राविड़ी नहीं है पर इसके साथ अपभ्रंश के—

१—नागर

२—ब्राचड़

३—उपनागर

ये तीन भेद और हैं। इस प्रकार अपभ्रंश के ३० भेद हैं।

पैशाची भाषा के तीन भेद है—

१—कैकेयी

२—शौरसेनी

३—पाञ्चाली

इस प्रकार भाषा के ५ विभाषा के ५ अपभ्रंश के ३० और पैशाची के ३ कुल मिलाकर ४३ भेद माने हैं।

राम तर्क वागीश ने भी मार्कण्डेय के अनुसार ही भाषाओं के भेद स्वीकृत किये हैं

अन्य चाहे कितनी भी प्राकृत भाषाएं भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित हों पर सभी ने (१) महाराष्ट्री (२) पैशाची (३) मागधी तथा (४) शौर सेनी इन चारों को अवश्य ही प्राकृत भाषाओं के रूप में स्वीकृत किया है।

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भाषाओं का वर्गीकरण (१) प्राकृत (२) संस्कृत तथा (३) अपभ्रंश इन तीन रूपों में किया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश की प्रथक् सत्ता स्वीकृत की है।

दण्डी ने काव्यादर्श में भाषाओं का एक 'मिश्र' भेद और स्वीकृत किया है अर्थात—

"तदेतद्वाङ् मयं भूयसंस्कृतं प्राकृतं तथा। अपभ्रंश इचमिश्रं चेत्याहु राप्ताश्चतु विधः"

इन चार भाषाओं में ही रचित ग्रन्थ पाये जाते हैं।

पुराण वाग्भट्ट ने अपने वाग्भटालंकार में 'भूत भाषित' नाम से एक और भाषा स्वीकृत है अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भूत भाषित ये चार भाषायें स्वीकृत की हैं। विद्वानों ने भूत भाषित से उनका तात्पर्य पैशाची भाषा से ही लिया है।

इस प्रकार सभी आचार्यों ने संस्कृत तथा प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। प्रश्न यह है कि अपभ्रंश के संस्कृत तथा प्राकृत के समकक्ष होने पर भी वररुचि आदि जैसे विद्वानों ने इस भाषा के सम्बन्ध में क्यों विचार नहीं किया? क्या उनकी दृष्टि में अपभ्रंश हेय अथवा अशिक्षित लोगों की भाषा थी या उनके समय में इसका प्रचलन नहीं था? यह मत तो कुछ अधिक तर्क संगत नहीं है कि उनके समय में इस का प्रचार न हो क्योंकि उनके समय में भी प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों का ग्रन्थों में प्रयोग होने लगा था और साधारण जनता में दोनों ही प्रचलित भी थीं। हेय भी इस भाषा को वे कैसे समझते? क्योंकि प्राकृत तथा अपभ्रंश की विस्तार-प्रक्रिया में पर्याप्त साम्य है और दोनों में ही संस्कृत को प्रायः मूल प्रकृति माना गया है। इस प्रकार यही कहा जा सकता है कि वररुचि को प्राकृत से अपभ्रंश की अपेक्षा अधिक आकर्षण और प्रेम था उसके रूपों पर वे मुग्ध थे। साथ ही प्राकृत भाषाओं का साहित्य उनके समय में अपभ्रंश भाषाओं की अपेक्षा अधिक समुन्नत तथा व्यापक था। प्रधान रूप से साहित्य में प्राकृतों का ही प्रयोग अधिक होता था और हो सकता है कि अपभ्रंश का प्रचलन होने पर भी उसका स्वरूप निश्चित रूप से व्यस्थित न हो सका हो? परन्तु वररुचि द्वारा विवेचन न होने पर भी उनकी महत्ता न्यून नहीं हो सकती।

हो सकता है कि वररुचि का अपभ्रंश विषय न हो और उन्होंने अपभ्रंश की ओर "बाहादयो बहुलम्" इस सूत्र मात्र से ही संकेत किया हो। भिन्न भिन्न देशों में ही अपभ्रंश भाषाओं का प्रचलन था और उनकी संख्या भी अधिक थी अतः सम्भव है कि वररुचि उन भाषाओं की ओर अधिक आकृष्ट न हुए हों और संक्षेप से ही उनका वर्णन कर दिया हो।

वृद्ध वाग्भट्ट ने अपभ्रंश भाषाओं के सम्बन्ध में—

"अपभ्रंश स्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्"

यही विचार प्रकट किया है कि अपभ्रंश उस भाषा को कहते हैं जो उन उन देशों में भाषाओं का शुद्ध प्रयोग होता है।

दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में यही विचार प्रकट किये हैं कि आभीर आदि देशी भाषायें जब नाटकों में प्रयुक्त की जाती हैं तब वे अपभ्रंश कहलाती हैं और--

"शौर सेनी च गौड़ी च लाटी चान्याच तादृशी।

याति प्राकृत मित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्"

अर्थात् शौर सेनी, गौड़ी, लाटी तथा अन्य इसी प्रकार की भाषायें, प्राकृत रूप में ही व्यवहार में कहलाई जाती हैं।

इस प्रकार देशी भाषाओं ने पूर्ण रूप से साहित्यिक रूप नहीं प्राप्त किया था हाँ प्राकृत भाषाओं का साहित्यिक रूप अवश्य हो गया था, अतः अपभ्रंश भाषाओं का समुचित विवेचन प्रारम्भ में नहीं हो सका। यह कार्य हेमचन्द्र ने पूर्ण किया। प्रतीत होता है कि इनके समय में ये देशी भाषाएं भी पूर्ण रूप से साहित्यिक स्वरूप प्राप्त कर चुकी थीं और इन भाषाओं में भी स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ प्रणयन होने लगा था।

दण्डी ने शब्दों के तीन रूप प्रतिपादित किये हैं (१) तत्सम (२) तद्भव (३) देशी। इससे प्रतीत होता है कि प्राकृत पद तद्भव की कोटि में आते हैं और देशी शब्द उनसे पृथक् हैं। यद्यपि इनका प्रयोग नाटकों में भी प्रारम्भ हो गया था-क्योंकि स्वयं भरत मुनि ने—

"शौर सेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।

अथवा छन्दतः कार्या देश भाषा प्रयोक्तृभि"।

अर्थात् शौर सेनी को लेकर नाटकों को भाषा होनी चाहिये अथवा देशी भाषाओं को बोलने वालों को अपनी इच्छा नुसार ही भाषा का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार दोनों प्रकार को भाषाओं का (प्राकृत अथवा अपभ्रंश) प्रयोग प्रतिपादित किया है। इस प्रकार ये देशी शब्द भी तद्भव हो हैं। हो सकता है प्राकृतों को मूल प्रकृति मान कर उनसे भी जो बिगड़े हुए रूप बने उनकी अपभ्रंश संज्ञा दे दी गई हो और उनके अन्दर तद्भवता प्राकृतों के माध्यम से आई हो। तत्सम शब्दों का विवेचन प्राकृत अथवा अपभ्रंश में अनुपयुक्त ही था क्योंकि वे तो संस्कृत के समान ही थे।

नाट्याचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में भाषाओं तथा

विभाषाओं का विवेचन करते हुए कुछ विस्तार से इस सम्बन्ध में विवेचन किया है। उनके विचार से भाषाओं के

१—मागधी
२—सूर सेनी
३—अवन्तिजा
४—प्राच्या
५—अर्ध मागधी
६—वाह्लीका
७—दाक्षिणात्या

सात भेद हैं। पैशाची तथा महाराष्ट्री का इनमें उल्लेख नहीं है। इन भाषाओं को प्राकृत नाम भी नहीं दिया गया है। विभाषायें भी (१) शबर (२) आभीर (३) चण्डाल (४) सचर (५) द्रविड़ (६) उद्रजा (७) हीना (वनेचरों की) ये ही स्वीकृत की हैं। इन विभाषाओं में प्रायः वे ही हैं जो इधर उधर घूमने फिरने वालों की बोलियां होती हैं।

नाटकों में जो राजा के अन्तः पुर में रहने वाले थे वे तथा स्वयं राजा लोग भी मागधी का प्रयोग करते थे। श्रेष्ठी, राज पुत्र तथा चेट गण अर्ध मागधी बोलते थे (नाटकों में ही)। विदूषक आदि प्राच्य भाषा का धूर्त तथा छली व्यक्ति अवन्तिजा का प्रयोग करते थे। नायिकायें तथा उनकी सखियां सूर सेन भाषा का, योद्धागण नागरिकजन तथा जुआ खेलने वाले दाक्षिणात्या का व्यवहार करते थे। उदीच्य लोग वाह्लीक भाषा प्रयोग में लाते थे। खस जाति के व्यक्ति अपने देश की भाषा का ही व्यवहार करें। शबर तथा शक जाति के अपने स्वभाव के अनुरूप शकार (सकार) भाषा का और पुक्कस, चाण्डाली भाषा का प्रयोग करें। कोयला बनाने वाले, बहेलिये, तथा वनौकस शबर भाषा का ही प्रयोग करें। पशु विक्रेता गायों, घोड़ों हाथियों, बकरी तथा भेड़ों का व्यवपार करने वाले और घोषों में रहने वाले आभीर अथवा शाबरी का व्यवहार करें। द्रविड़ प्रदेश के निवासी द्राविड़ी को बोलें। सुरंग खोदने वाले, शराब वेचने वाले, रक्षक गण तथा नायक अपने दुख के समय अथवा आत्म रक्षा के समय मागधी भाषा का प्रयोग करें।

वर्बर, किरात, आन्ध्र, द्रविड़ आदि जातियों के लिये नाटकों के प्रयोग में भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। गंगा, सागर के मध्य में जो देश हैं उनमें ए कार बहुला भाषा का प्रयोग उस भाषा को जानने वाले करें। विन्ध्याचल तथा समुद्र के बीच के निवासी नकार बहुला भाषा का प्रयोग

करें। सौराष्ट्र, अवन्ती तथा वेत्रवती के उत्तर में जो प्रदेश हैं उनमें चकार बहुला भाषा का प्रयोग करें। हिमालय, सिन्धु, सौवीर (गुर्जर) आदि देशों में उकार बहुला भाषा का प्रयोग करना चाहिये। चर्मण्वती नदी के परवर्ती भाग में तथा जो अर्बुद देश के निवासी हैं वहां तकार बहुला भाषा का व्यवहार करना चाहिये।

प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने उस उस देश की भाषाओं की विशेष प्रवृत्तियों को देख कर ही इस प्रकार के नियमों की व्यवस्था की थी जिससे कि नाटकों को समझने में दर्शक वन्द को सुविधा हो सके। इन सब भाषाओं के पदों के निर्माण के सम्बन्ध में वररुचि के प्राकृत प्रकाश से अथवा, प्राकृत मञ्जरी एवं प्राकृत सर्वस्व से विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। केवल हेमचन्द्र का शब्दानुशासन ही भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रकाश डालता है पर फिर भी पूर्ण रूप से व्यापक नियमों तथा प्रवृत्तियों का दर्शन कराने वाली कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। स्वयं भरत मुनि ने इन भाषाओं के प्रति अपने अज्ञान को प्रकट करते हुए लिखा है कि—

"एवं भाषा विधानं तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम्। अत्रनोक्तं मया यच्च लोकाद् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्"

अर्थात् यथा सम्भव नाटकों में भाषाओं का इसी प्रकार से विधान करना चाहिये और हो सकता है कि मुझसे इन भाषाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ बातें शेष रह गई हों उनको बुद्धिमान व्यक्तियों को लोक के द्वारा ग्रहण करना चाहिये और उनका प्रयोग नाटकों में करना चाहिये।

इस प्रकार भिन्न आचार्यों के प्राकृतों एवं अपभ्रंश भाषाओं के प्रति भिन्न-भिन्न विचार हैं।

प्राकृत भाषाओं का साहित्यिक संविधान

भाषाओं का रूप विधान सामाजिक विचार धाराओं तथा भावनाओं का द्योतक होता है। समाज के बिना भाषा का अस्तित्व ही नहीं रहता न उसका कोई मूल्य ही होता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समाज समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों का निर्माण करता है। समाज के नियमों का कारण नहीं होता उनमें तो उसकी विशेष रूप से रुचि और प्रवृत्ति ही होती है। लोक में वधू को बहू कहा जाता है ध को ह का रूप दे दिया गया है पर साधु में ध अब भी उसी प्रकार स्थित है। उसका साहू रूप साधु के अर्थ का प्रत्यायक नहीं है। समाज ने यह पक्षपात दोनों के साथ क्यों किया ? इसका कोई कारण नहीं है। सामाजिक रुचि चन्द्र को चन्दा कहती है और वह प्यारा तथा श्रुति मधुर भी है पर इन्द्र का रूप इन्दा न होकर इन्दर ही होता है इन्दर ही सुख-सुख को देता है। इसके पीछे समाज गत कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यही पद प्रयोग में आते-आते साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेते हैं। ब्रजभाषा में इनका प्रयोग मिलता है, अवधी में भी ये ही प्रयोग साहित्यक हो गये हैं। बैसवाड़ी भाषा में बनरा, वर (दुलहा) के लिये प्रयुक्त होता है और विवाह के अवसर पर ग्रामीण क्षेत्रों में 'बनरा' गीत भी गाये जाते हैं जिन गीतों का सम्बन्ध विवाह के अवसर की प्रसन्नता सूचक वधुओं तथा वर के सौन्दर्य एवं उसकी वेषभूषा से होता है। बनरा की प्रकृति वरण करना या स्वीकार करना है वर और वरण एक ही प्रकृति मूलक हैं। अपभ्रंश काल में ण की न प्रवृत्ति तथा वर्ण व्यत्यय होने से बनरा का अर्थ वरण करने वाला ही होता है। (लोक गीतों में अत्यन्त भावपूर्ण तथा मधुर बनरा प्राप्त होते हैं)। उन गीतों के लोक भाषा में कहे जाने पर भी साहित्यिक मूल्य में किसी भी प्रकार की कमी नहीं होती प्रत्युत प्रचलित भाषा के प्रयोग से उनके माधुर्य में और भी वृद्धि हो जाती है। विद्युत् तथा पीत शब्द प्राकृत में अपने अन्त में ल का योग कर लेते हैं। देशी रूपी बिजली और पीला प्रचलित है। प्राकृत रूप बिज्जुली और पीअलं था। प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में हिन्दी के प्रचलित रूपों का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। 'भवति' जिसका अर्थ

संस्कृत में होना है प्राकृत में 'होइ' ऐसा हो जाता है और वही रूप प्रचलित हिन्दी में 'होता' है। इस प्रकार हिन्दी की प्रायः समस्त पदावली तथा धातु प्रक्रिया प्राकृत या अपभ्रंश भाषाओं पर आधारित है।

इन प्राकृत भाषाओं ने विक्रम की द्वितीय शताब्दी पूर्व से लेकर नवीं या दसवीं शताब्दी तक संस्कृत साहित्य को प्रभावित किया है। संस्कृत का सम्पूर्ण नाट्य साहित्य प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से परिपूर्ण है और प्रायः सम्पूर्ण नाटकों में भरत मुनि द्वारा नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित नियमों का पालन किया गया है। शूद्रक कवि के मृच्छकटिक, भास के स्वप्नवासवदत्तम् आदि नाटकों से लेकर मुरारी कवि के अनर्घराघव नाटक तक सभी में यथा साध्य नाट्य शास्त्र के नियमों का पालन किया गया है। यद्यपि ९वीं या १०वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषाओं का प्रचलन समाप्त प्राय था और उनका स्थान अपभ्रंश एवं देशी भाषाओं ने ग्रहण कर लिया था तो भी नाटक के नियमों के पालन करने के कारण चाहे उन भाषाओं के जानने या समझने वाले दर्शक वृन्द में न हों तो भी उन प्राकृत भाषाओं का प्रयोग कवि गण परम्पराओं की प्रथा के अनुरूप करते ही थे। इस प्रकार नाटकों में क्रमशः कुछ अनभिनेयता अवश्य आ गई पर प्राकृत भाषाओं का संरक्षण किसी न किसी रूप में होता ही रहा।

कर्पूर मञ्जरी, सेतुबन्ध, कुमार पाल चरित आदि ग्रन्थों का प्रणयन प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में ही हुआ है। 'गउड वहो' जो प्राकृत भाषाओं का प्राचीन ग्रन्थ है उससे प्राकृत भाषाओं का लालित्य तथा माधुर्य स्पष्ट होता है।

भाषाओं का साहित्यिक संविधान बोलियों में उतना स्पष्ट नहीं हो पाता जितना कि वहाँ की साहित्यिक भाषा में होता है। प्राकृत भाषायें पूर्ण रूप से सम्पूर्ण भारत में किसी भी समय एकमात्र साहित्यिक भाषा का स्थान नहीं ले सकीं। पालि भाषा भी एक रूप में प्राकृत भाषा ही है परन्तु भगवान तथागत के वचन जिस भाषा में संगृहीत किये गये उसका प्राकृत भाषाओं से वैशिष्ट्य प्रदर्शित करने के लिये अलग नामकरण पालि भाषा से किया गया क्योंकि पालि का निर्वचन भी पा रक्षणे धातु से पाति रक्षति बुद्ध वचनानि या सा पालिः, अर्थात् बुद्ध के वचनों की जो रक्षा करती है उसे पालि कहते हैं।

यह पालि भाषा भी बौद्ध भारत में समादृत होने पर भी विशिष्ट धर्म के मानने वालों की ही भाषा रही। इसी प्रकार अर्ध मागधी प्राकृत को जैन समुदाय वालों ने अपनी भाषा स्वीकृत किया और अपने धर्म ग्रन्थों की

रचना इसी भाषा में की। विशेष धर्म की भाषा होने के कारण इन दोनों भाषाओं का साहित्य अन्य प्राकृत भाषाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण और सुन्दर है।

अशोक ने अपने राज्य के आदेश भी उन उन देशों में प्रचलित भाषाओं में ही स्तूपों तथा शिला लेखों मे खुदवाये जिनसे जनता उनसे लाभ उठा सके। इससे प्रतीत होता है कि उनके समय तक भी कोई एक प्राकृत सर्व मान्य नहीं थी और भाषायें अपने अपने प्रान्तीय स्तर पर ही पनप रही थीं। संस्कृत के अनुरूप सर्व मान्य कोई भाषा राष्ट्रीय स्तर पर नहीं थी।

अशोकी प्राकृत भी यत्र तत्र उपलब्ध होती है पर उसका साहित्यिक रूप कोई भी उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार मुख्य रूप से प्राकृत भाषाओं का उपयोग संस्कृत के नाटकों में ही प्राप्त होता है। नाटकों में भी इन भाषाओं का प्रयोग उच्च वर्ण (आभिजात्य) के व्यक्ति नहीं करते थे। स्त्रियों में चाहे वे नायिका हों अथवा चेरी हों सभी के लिये प्राकृत भाषाओं का प्रयोग अनिवार्य था। इन भाषाओं को सामान्य रूप से संस्कृत की समकक्षता कभी भी नहीं प्राप्त हुई।

निस्सन्देह रूप से प्राकृत भाषायें सरल रूपों को लेकर ही अवतरित हुईं। वृश्चिक (विच्छू) शब्द के स्थान पर बिच्छुओं का प्रयोग उच्चारण की दृष्टि से अवश्य सुगम है। पद के अन्त में ओ की ध्वनि और तिङन्त के अन्त में इ की ध्वनि सरलता के साथ संगीतात्मकता को भी द्योतित करती है। बधिरः का 'बहिरो' रूप कुछ स्वाभाविक और सरल अवश्य है। इसी प्रकार विश्वासः का विस्सासो शृंगारः का सिंगारो, स्नेह का सनेही, भवति का होइ, हर्षति का हरसइ, शृणोति का सुणइ आदि ऐसे रूप हैं जो निस्सन्देह साहित्य की सरलता तथा श्रुति मधुरता को द्योतित करते हैं।

इसके साथ ही प्राकृत भाषाओं में संस्कृत की रूपों की जटिलता का भी समाधान किया गया और तिङन्त (धातु) तथा सुबन्त(नाम)दोनों में प्रथक्-प्रथक् एक रूपता लाने से साहित्य की भाषा के माध्यम से साहित्य में जो दुरूहता आ गई थी वह समाप्त हुई। अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त शब्दों के जो रूप भिन्न भिन्न चलते थे उनमें भी न्यूनता आई और यह प्रयत्न किया गया कि साहित्य के अन्दर व्याकरण की जटिलताओं तथा अत्यधिक शब्द रूपों को समाप्त कर दिया जावे जिससे आसानी से एक ही नियम से सभी रूपों की सिद्धि हो सके। पुरुसस्स, अग्गिस्स, वायुस्स आदि रूप इसके प्रमाण हैं। इसी प्रकार विभक्तियों में चतुर्थी का काम षष्ठी से लिया जाने लगा, पंचमी

तथा तृतीया भी कहीं कहीं एक रूप की हुईं। भूत तथा भविष्य के जो तीन भेद थे वे एक ही रह गये। इस प्रकार प्राकृत भाषाओं ने संस्कृत साहित्य को सुगम, सरल तथा सुबोध बनाने में प्रशंसनीय कार्य किया।

प्राकृत भाषाओं तथा उसके उपरान्त अपभ्रंश भाषाओं के प्रसार से संस्कृत भाषा का प्रभाव लुप्त होने लगा। जनता में यह भी भावना नहीं रही कि वे मूल प्रकृति, संस्कृत की सुरक्षा का ही प्रयत्न करते। किसी भी भाव को प्रकट करने के लिये जो भी प्रयोग हो गया उसी को जनता ने अपना लिया और वही लोक में प्रचलित भी हो गया। संस्कृत में भ्रम का अर्थ भ्रमण करना या घूमना होता है और प्राकृत काल में भ्रमइ का भ्रमइ रूप बनता है। धीरे-धीरे इस भ्रमार्थक (घूमने के) भाव के लिये (१) टिरिटिल्लइ, (२) ढुढुल्लइ (३) चक्कम्मइ (४) ढण्ढल्लइ (५) भम्मडइ, (६) भमडइ, (७) भमाडइ, (८) तलअण्टइ, (९) झण्टइ, (१०) झम्पइ, (११) भुमइ (१२) गुमइ (१३) फुमइ, (१४) फुसइ, (१५) ढुमइ, (१६) ढुसइ, (१७) परीइ, (१८) पराइ ये १८ प्रयोग होने लगे। इन प्रयोगों में फुमइ, फुसइ, तलअण्टइ का संस्कृत की मूल प्रकृति 'भ्रम' से कोई भी अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। अपभ्रंश काल में भाषाओं के प्राकृत रूप भी इतने अधिक परिवर्तित हो गये कि उनमें परस्पर भेद या साम्य की रूप-रेखा भी विलुप्त हो गई और पूर्ण रूप से नवीन प्रयोग साहित्य में उपलब्ध होने लगे।

ये प्रयोग एक देशीय नहीं थे। हो सकता है कि एक ही प्रदेश में कुछ अन्तर से इनका प्रयोग भिन्न भिन्न देशी बोलियों में होने लगा हो और साहित्य का सृजन इन प्रयोगों में न सही पर लोक व्यवहार के लिये इनका उपयोग किया जाता रहा हो।

रूप-सिद्धि

नाम

प्राकृत भाषाओं में वररुचि के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत ही प्रमुख रूप से प्रचलित थी और उसी महाराष्ट्री का प्रभाव मागधी, पैशाची तथा सौरसेनी प्राकृतों पर पड़ा है। इन भाषाओं में संस्कृत के शब्दों को ही आधार मानकर उनमें भिन्न-भिन्न जो परिवर्तन हुए हैं उनका विचार प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणों ने किया है। अपभ्रंश भाषाओं में भी इन प्राकृत भाषाओं का पूर्ण प्रभाव है। प्राकृत भाषाओं में वररुचि का प्राकृत प्रकाश सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है उन पर भामह ने संक्षिप्त वृत्ति भी लिखी है। प्राकृत प्रकाश में प्रधान रूप से प्रचलित शब्दों की साधनिका का प्रकार बतलाया गया है। हेमचन्द्र जो अपभ्रंश भाषाओं के प्रमुख वैयाकरण हैं उन्होंने अपने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ में भी प्राकृत भाषाओं के सम्बन्ध में विशेष विवेचन किया है। इन्हीं दोनों मान्य आचार्यों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का विवेचन करना अधिक प्रामाणिक और युक्ति-युक्त है।

संस्कृत के नामों में सुप् लगकर सुबन्त पद बनते हैं। सुप् जिसके अन्त में हो उसे सुबन्त कहते हैं।

सु, औ, जस्, अम् औट शस्; टा भ्याम् भिस्; ङे भ्याम् भ्यस; ङसि भ्याम्, भ्यस्; ङस्, ओस् आम्; ङि ओस् सुप्।

इनमें प्रारम्भ में सु है और अन्त में प् अक्षर है, प्रारम्भ के अक्षर सु और अन्त के अक्षर प् को लेकर 'सुप्' पद बनता है। सुप् जिसके अन्त में हो उसे सुप्+अन्त=सुबन्त कहते हैं।

शब्दों में जब तक कोई सुप् (सु, औ, जस् आदि) अन्त में संयुक्त नहीं होते तब तक उस शब्द को पद नहीं कहते और उनका प्रयोग भी नहीं होता। प्रत्येक नाम किसी न किसी कारक में प्रयुक्त किया जाता है और जब तक उसमें सुप् का कोई प्रत्यय नहीं लगता तब तक वह कारक के रूप में प्रयुक्त होने के योग्य भी नहीं होता और न उसको पद की संज्ञा ही प्राप्त होती है क्योंकि संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात्

सुबन्त तथा तिङन्त को ही पद संज्ञा होती है और तभी इनकी विभक्ति संज्ञा भी होती है अर्थात् संस्कृत के नाम प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति में विभक्त हो जाते हैं। इन्हीं को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध तथा अधिकरण के नाम से भी कहा जाता है। सम्बोधन एक और विभक्ति होती है और उसे सम्बोधन कारक के नाम से कहा जाता है।

संस्कृत व्याकरण का आधार लेकर इन शब्दों की रूप सिद्धि में प्राकृत काल में किस प्रकार परिवर्तन हुए और किन नियमों को प्राकृत में स्वीकृत किया गया तथा किनको छोड़ा गया इस पर प्राकृत वैयाकरणों ने पूर्ण विचार किया है और उस समय जनता में जो रूप प्राप्त होते थे उनके लिये अलग अलग नियमों को निश्चित किया है। इसके लिये एक उदाहरण प्रारम्भ में समझ लेना आवश्यक है। संस्कृत में वृक्ष का अर्थ पेड़ होता है इसका प्रथमा विभक्ति के एक वचन में 'वृक्षः' यह रूप होता है द्विवचन में वृक्षौ तथा बहुवचन में वृक्षाः ये रूप बनते हैं। वृक्षः इसकी सिद्धि के लिये वृक्ष शब्द के आगे सु विभक्ति लाते हैं वृक्ष+सु इस अवस्था में 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र से सु में जो उ है उसकी इत् संज्ञा हो जाती है और 'तस्यलोपः' इस सूत्र से उ का लोप हो जाता है। इस प्रकार राम+स् ऐसा रह जाता है 'सषजुषोरूः' इस सूत्र से स् को 'रु' यह हो जाता है और फिर स के उ का लोप हो जाता है राम+र् ऐसा रह जाता है फिर 'खरवसान-योर्विसर्जनीयः' इस सूत्र से र् को विसर्ग : यह हो जाता है और इस प्रकार प्रथमा विभक्ति के एक वचन में वृक्षः यह रूप बनता है। इसी प्रकार वृक्षौ तथा वृक्षाः आदि रूप भिन्न भिन्न नियमों से बनते हैं और कर्ता कारक का रूप वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः, बनता है।

पर प्राकृत भाषाओं में 'वृक्ष' का 'वच्छो' यह रूप प्राप्त होता है। केवल 'वच्छो' ही नहीं अपितु 'वत्स' तथा 'रुक्खो' ये रूप भी प्राप्त होते हैं।

प्राकृत भाषाओं में शब्द के आदि के ऋकार को 'अ' हो जाता है। वर रुचि के अनुसार 'ऋतोऽत्' (१-२) इस सूत्र से 'वृक्ष' शब्द से वृ के ऋ को व हो गया तो वक्ष+सु ऐसा रूप हुआ फिर उसके उपरान्त 'अक्ष्यादिषुच्छ' (३.३०) इस सूत्र से क्ष को छ ऐसा आदेश होता है इस प्रकार व+छ+सु यह रूप हुआ तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से छ को द्वित्व हो गया व+छ+छ+सु फिर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से

प्रथम छ को च् यह हो गया तो व+च्+छ+सु ऐसा रूप बना फिर अत् ओत् सोः (५–१) इस सूत्र से सु को 'ओ' हो जाता है इस प्रकार वृक्ष का प्राकृत महाराष्ट्री में 'वच्छो' यह रूप प्रथमा विभक्ति के एक वचन में बनता है।

वृक्ष का वच्छो रूप उच्चारण की सुविधा से ही प्रयुक्त होता था वृ का उच्चारण फिर क्ष का उच्चारण कुछ कर्ण कटु तथा प्रयत्न साध्य था अतः प्राकृत में 'वच्छो' का प्रयोग वृक्ष के लिये होने लगा। किन्हीं प्राकृतों में वृक्ष के स्थान पर 'रुक्खो' भी बोला जाता था। उसकी सिद्धि के लिये भी– वृक्ष+सु इस में 'वृक्षे वेन रुवा' (१-३२) इस सूत्र से वृ के स्थान पर 'रु' होगया तो रु+क्ष+सु यह रूप प्राप्त हुआ तब 'ष्वस्कक्षांक्षः' (२-२९) इस सूत्र से क्ष को 'ख' यह होगया तब रु+ख+सु यह रूप हुआ तदनन्तर 'शेषादेशपोद्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ख को द्वित्व होने पर रु+ख+ख+सु यह रूप बना तब 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ख के स्थान पर क् हो गया और रु+क्+ख+सु यह हुआ तब 'अत् ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से सु को ओ होने पर रुक्खो यह रूप सिद्ध हुआ।

प्राकृत भाषाओं में ये परिवर्तन के नियम भाषाओं के प्रचलन के बाद ही निश्चित हुए जैसा कि अन्य भाषाओं में होता है—पर इन की प्रकृति वररुचि मार्कण्डेय आदि ने संस्कृत को ही माना है और संस्कृत को ही प्रकृति मान कर रूपों की सिद्धि की है। इस प्रकार जब तक प्राकृत रूपों का शास्त्रीय प्रयोग विधान हमें स्पष्ट नहीं होता तब तक किस प्रक्रिया से प्राकृत रूप बने यह भी स्पष्ट नहीं हो पाता और प्राकृत भाषाओं की वैज्ञानिकता का भी उपपादन नहीं हो पाता अतः आवश्यक है कि हम प्राकृत भाषाओं का रूप विधान अवगत करें और उनके नियम भी जानें।

प्राकृत प्रकाश कार वर रुचि को प्रमाण मानकर कतिपय नामों की सिद्धि का विवेचन इस अध्याय में किया जायगा। प्राकृत भाषा के नियमों का पूर्ण रूप से सूत्रों के सहित उल्लेख भी प्राप्त होगा। क्योंकि बिना सूत्रोल्लेख के तथा उसके कार्य के प्राकृत भाषाओं का व्याकरण अवगत करना कुछ कठिन ही होगा। शब्दों के प्रयोग अकारादि क्रम से ही सिद्ध किये गये हैं। संयुक्त, असंयुक्त, सर्व नाम, लिंग, तथा तिङन्त का विवेचन अलग-अलग अध्यायों में किया जायगा।

प्राकृत भाषाओं के साथ अपभ्रंश भाषाओं का भी समन्वय है। बहुत से नियम दोनों भाषाओं में समान भी प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं विशेषता भी हो जाती है पर प्राकृत भाषाओं की प्रकृति को अपभ्रंश भाषाओं से पूर्णरूप से विच्छिन्न भी नहीं किया जा सकता। इस दिशा में हेमचन्द्र का 'शब्दानुशासन' ही अधिक प्रामाणिक और सर्वाङ्गीण है अतः संक्षेप से उन्हीं के आधार पर अपभ्रंश भाषाओं की भी रूप-सिद्धि अलग अध्यायों में वर्णित है।

प्राकृत-शब्द-सिद्धि:

१. अंसू तथा अंस्सू (अश्रु = आंसू)

अश्रु शब्द संस्कृत का है। प्राकृत में इसका रूप 'अंसू' बनता है और प्रचलित हिन्दी भाषा में इस का रूप आंसू है।

अश्रु शब्द में 'वक्रादिषु' (३-१६) वररुचि के इस सूत्र से प्रारम्भ के अक्षर के ऊपर बिन्दु (ं) यह रख दिया जाता है। इस प्रकार 'अंश्रु' यह रूप बना तत्पश्चात् 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से संयुक्त अक्षरों के ऊपर या नीचे स्थित ल, व, र, का लोप हो जाता है अत: यहाँ भी अंश्रु के र् का लोप होने पर अंशु रूप हुआ। तदनन्तर 'शषोः सः' (२-४३) इस सूत्र से सर्वत्र श् तथा स् को ष हो जाता है अत: यहाँ पर श को स होने पर अंसु रूप बना तत्पश्चात् 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) अर्थात् इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में सु, भिस् तथा सुप् होने पर अन्त्य को दीर्घ हो जाता है। अत: इस सूत्र से 'अंसु' के अंतिम उ को दीर्घ होने पर 'अंसू' रूप प्राकृत में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं पर 'अंस्सू' रू पभी प्राप्त होता है वहाँ 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से स् को द्वित्व होने से 'अंस्सू' रूप बनता है।

२. असो, आसो, अस्सो—

यह तीन रूप 'अश्वः' इस शब्द के बनते हैं जिसका अर्थ घोड़ा होता है। 'अस्सो' में 'शषो सः' (२-४३) इस सूत्र से श को स् हो जाता है तब 'अस्वः' रूप बनता है। फिर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से व् का लोप हो जाता है और 'सर्वादिषुच' (३-५८) इस सूत्र से स् को द्वित्व होता है पर विकल्प से होता है अर्थात एक पक्ष में होता है और एक पक्ष में नहीं होता इस प्रकार अस्सः, असः ये दो रूप बनते हैं तब 'अत् ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से सु या विसर्ग को ओ हो जाता है तब अस्सो, और असो, ये दो रूप बनते हैं। 'आसमृद्ध्यादिषुवा' (१-२) इस सूत्र से प्रारम्भ के अ को दीर्घ हो जाता है तब 'आसो' रूप बनता है और जब दीर्घ नहीं होता तब 'असो'

यही रूप बनता है। इस प्रकार एक ही अश्व के प्राकृत भाषाओं में 'अस्सो, असो और आसो' ये तीन रूप प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र के 'नदीर्घीनुस्वारात्' इस सूत्र से द्वित्व नहीं होता।

३. अक्को—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अर्कः' है। अर्क का अर्थ सूर्य या आक का वृक्ष होता है। अर्कः में प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र का लोप हो जाता है 'अकः' यह शेष रहता है 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०)इस सूत्र से क का द्वित्व हो जाता है और अक्कः यह रूप बना है तब 'अत् ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' हो जाता है और 'अक्को' यह बनता है।

४. अग्गी—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अग्नि' है जिसका अर्थ 'आग' है। 'अग्नि' के न का लोप 'अधोमनयाम्' (३-२) इस सूत्र से होने पर 'अगि' यह रूप रहा तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ग को द्वित्व होने पर 'अग्गि' यह रूप हुआ तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने से 'अग्गी' यह रूप सिद्ध होता है। 'इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में सु' का लोप हो जाता है। अन्त्य हलः (४-६)।

५. अग्गिणोः—

द्वितीया विभक्ति के बहु वचन में 'अग्गिणो' यह रूप बनता है- संस्कृत में 'अग्नीन्' यह होता है। अग्नि यह सिद्ध हो जाने पर (देखो अग्गी) 'शस्' जो द्वितीया के बहुवचन का प्रत्यय है उसके आने पर अग्नि नशस् इस अवस्था में इदुतोः शसोणो' (५-१४) इस सूत्र से शस् के स्थान पर णो यह आदेश हो जाता है और 'अग्गिणो' यह रूप बनता है जिसका अर्थ 'आगों को' यह होता है।

६. अग्घो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अर्घः' है जिसका अर्थ 'पूज्य' होता हो। अर्थ बसु इस अवस्था में 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इससे र् का लोप होने पर अघ+सु यह शेष रहा। 'शेषा देशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से घ को द्वित्व होकर अ + घ + घ + सु यह हुआ तब 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से प्रथम घ के स्थान पर ग् होने पर अ + ग् + घ् + सु यह शेष रहा। 'अत ओत् सो' (५-१) इससे सु के स्थान पर 'ओ' होने पर अग्घो यह रूप सिद्ध हुआ।

७. अच्छी—

इसकी संस्कृत प्रकृति 'अक्षि' है जिसका अर्थ आँख होता है। अक्षि +सु इस अवस्था में 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से क्ष कार को छ हो जाता है तो अछि + सु यह रूप बना तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर अ + छ + छ+इ + सु यह रूप हुआ फिर 'वर्गेषु युजः पूर्वः (३-५१) इस सूत्र से प्रथम छ् को च होने पर अ + च् + छ+इ +सु यह हुआ। उपरान्त 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने पर अच्छी + सु यह शेष रहा। 'अन्त्य हलः' (४-६) इस सूत्र से स का लोप होने पर तथा उ का लोप होने पर 'अच्छी' यह रूप बना।

८. अच्चरिअं, अच्छेरं—

इसकी संस्कृत की मूल प्रकृति 'आश्चर्यम्' है जिसका अर्थ अचरज विस्मय, तअज्जुब आदि होता है। शौरसेनी प्राकृत में इसका रूप 'अच्चरिअं' बनता है। 'आश्चर्यस्याच्चरिअं' (१२-३०) इस सूत्र से 'आश्चर्य' इसके स्थान पर 'अच्चरिअं' यह आदेश हो जाता है। महाराष्ट्री प्राकृत में इसका रूप 'अच्छेरं' बनता है। प्रथम आश्चर्य के 'आ' को 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) इस सूत्र से 'अ' हो जाता है और 'अश्चर्य' यह रह जाता है। अपभ्रंश भाषाओं में 'ह्रस्वः संयोगे' (८-१-८४ हेमचन्द्र 'शब्दानुशासन') इस सूत्र से दीर्घ 'आ' को छोटा 'अ' ह्रस्व होता है। इसके बाद 'श्चत् सप्सां छः' (३-४०) इस सूत्र से 'श्च्' केस्थान पर 'छ' हो जाता है और 'अछर्य' यह शेष रहता है फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से 'छ' को द्वित्व होकर अ + छ + छ + र्य यह स्वरूप होता है पुनः 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से प्रथम छ को च् होकर अच्छर्य यह रूप होता है तब 'तूर्य्य, धैर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषुरः' (३-१८) इस सूत्र से र्य के स्थान पर र होकर 'अच्छरं' यह बनता है 'सोर्विन्दुर्नपुसंके' (५-३०) इस सूत्र से सु विभक्ति को विन्दु (ं) यह हो जाता है और ए शय्यादिषु' (१-५) इस सूत्र से छ के अ को 'ए' होकर 'अच्छेरं' यह रूप सिद्ध होता है।

९. अजसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अपयशः' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से अपयशः के 'प' का लोप होकर 'अयशः' यह रह जाता है। तब 'आदेर्योजः (२-३१) इस सूत्र से य के स्थान पर 'ज' होकर 'अ+ज+शः' यह शेष रहता है फिर 'शषोसः' (२-४३) से श के स्थान पर 'स' हो कर

अ+ज+सः यह बनता है। संकृत में अपयश शब्द नपुंसकलिंग है पर प्राकृत भाषा में 'नसान्त प्रावृट् सरदः पुंसि' (४-१८) इस सूत्र से इसको पुल्लिग होता है और 'अन्त्य हलः' (४-६) इस सूत्र से अन्त के हल् का लोप हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से सु को 'ओ' होकर 'अजसो' रूप बन जाता है।

१०. अज्ज—

इसकी प्रकृति 'आर्य' है जिसका अर्थ श्रेष्ठ होता है। यह शब्द आमन्त्रण (पुकारने) में प्रयुक्त होता है तब इसके स्थान पर 'अज्ज आमन्त्रणे' (९-१७) इस सूत्र से आर्य के स्थान पर 'अज्ज' यह निपात हो जाता है।

११. अज्झाओ—

इसकी मूल प्रकृति 'अध्यायः' है। सर्व प्रथम ध्य को 'ध्यह्योर्झः' (२-२८) इस सूत्र से ध्य के स्थान पर 'झ' हो जाता है तब अ+झा+यः यह रूप बनता है तब शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३-५०) इस सूत्र से झ को द्वित्व होकर अ+झ+झा+यः, यह रूप होता है। पुनः 'वर्गेषुयुजःपूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व झ को ज होकर अ+ज+झ+आ+यः रूप बना तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होकर अ ज् झा ओ रूप बनता है और अन्त्य हलः (४-६) से अन्त्य सु का लोप होकर अज्झाओ सिद्ध हो जाता है।

१२. अट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'अस्थि है' जिसका अर्थ हड्डी है। सर्व प्रथम स्थ के स्थान पर 'अस्थनि' (३–११) इस सूत्र से ठ होकर अ+ठ+इ यह रूप हुआ तत्पश्चात् 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३–५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होकर अ+ठ+ठ+इ यह हुआ। पुनः 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३–५१) इस सूत्र से प्रथम ठ को ट् होकर अ+ट्+ठ+इ यह रूप बना। तब 'सुमिस्सुप्सु दीर्घः' (५–१८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होकर 'अट्ठी' यह रूप सिद्ध होता है।

१३. अण्णं—

इसकी प्रकृति 'अन्नम्' या 'अन्य' शब्द से है-संस्कृत में इनका अर्थ क्रम से 'अनाज' और 'दुसरा' होता है। सर्व प्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न को ण हो जाता है और फिर 'मो बिन्दुः' (४-१२) इस सूत्र से म् को विन्दु (ं) होकर अनाज के अर्थ में 'अण्णं' बनता है। 'अन्य' शब्द से 'अण्ण' रूप बनाने में सर्व प्रथव 'अधोमनयाम्' (१-२)

इस सूत्र से य का लोप होने पर अन्न यह शेष रहा तत्पश्चात् 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न को ण हो गया फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ण को द्वित्व हो गया और 'मो बिन्दुः' (४–१२) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर अण्णं यह रूप सिद्ध होता है।

१४. अप्पा, अप्पाणो—

इस दोनों की प्रकृति 'आत्मन्' तथा 'आत्मानः' है—आत्मानः प्रथमा का बहुवचन है और इसका प्राकृत में अप्पाणो यह रूप बनता है परन्तु 'आत्मनोऽप्पाणोवा' (५–४५) इस सूत्र से विकल्प से 'अप्पाणो' आदेश होता है। अप्पा में 'आत्मन्' प्रकृति है प्रथम 'सन्धा बचा मज् लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) इस सूत्र से 'आ' को छोटा 'अ' हो जाता है और फिर 'आत्मनिपः' (३–४२) इस सूत्र से त्म के स्थान पर प हो गया तो 'अ प न्' रूप बना तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३–५०) इस सूत्र से प को द्वित्व होकर अ+प्+प्+न् रूप बना तदनन्तर 'इत्वद्वित्ववर्जं राजवदना देशे' (५–४६) इस सूत्र से अत् को 'आ' होकर 'अप्पा' रूप बनता है।

१५. अत्तो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'आर्तः' है जिसका अर्थ पीड़ित या दुःखित होता है। 'आर्त्त' के र का लोप 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से होकर 'आतः' यह रूप रहा तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से त को द्वित्व होकर और 'सन्धा व चा म ज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) इस सूत्र से आ का ह्रस्व होकर 'अत्तः' रूप बना तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे अन्त में 'ओ' होकर 'अत्तो' रूप सिद्ध हुआ।

१६. अद्धा—

इसकी मूल प्रकृति 'अध्वा' है जिसका अर्थ मार्ग या रास्ता है। 'अध्वा' में 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से ब् का लोप होकर अ+ध्+आ यह रूप शेष रहा—तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ध् को द्वित्व होकर 'अ+ध्+ध्+आ' यह रूप बना तब 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ध् को द् होकर 'अद्धा' यह रूप बनता है।

१७. अप्पुल्लं—

इसकी मूल प्रकृति 'आत्मीयं' है जिसका अर्थ 'अपना' होता है। सर्व प्रथम 'आत्मनिपः' (३-४८) इस सूत्र से त्म के स्थान पर प हो गया तो

आ+प+म+य यह रहा, तब 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से प को द्वित्व हो गया और 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) इससे आ को ह्रस्व होकर अ+प्+प+म+य यह शेष रहा—तब अन्त्यहलः (४-६) से म् का लोप होगया फिर 'इल्लोल्लावपरे प्राप्तः शैषिकेषुप्रयुज्जते' इस वार्तिक से जो (४-२५) सूत्र पर है 'उल्ल' प्रत्यय हो गया और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इससे बिन्दु (ं) होने पर 'अप्पुलम्' यह सिद्ध होता है।

१८ अव्वं, अम्बं—

इन दोनों शब्दों की मूल प्रकृति 'आम्र' है, जिसका अर्थ आम होता है। सर्व प्रथम 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) इस सूत्र से 'आ' को छोटा 'अ' हो जाता है और फिर 'आम्रताम्रयोर्वः' (३-५३) इस सूत्र से म्र के स्थान पर व हो गया। व को 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से द्वित्व होकर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होकर 'अव्वं' यह रूप सिद्ध होता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'ताम्राम्रेम्बः' इस सूत्र से म्र मो 'म्ब' हो जाता है और बड़े आ को ह्रस्व होकर (सन्धा व चा म ज् लोप विशेषाबहुलम् (४-१ इस सूत्र से) 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होकर 'अम्बं' यह बनता है।

१९ अरिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'अर्हः' है जिसका अर्थ पूज्य या योग्य होता है। प्राकृत भाषाओं में कुछ संयुक्त शब्दों का विप्रकर्ष हो जाता है अर्थात् वे ध्वनियाँ संयुक्त न होकर अलग-अलग उच्चरित होती हैं—जैसे श्री का सिरी, क्लिष्ट का किलिष्ट, ही का 'हिरी' आदि।

इस प्रकार प्रथम 'इः श्री ह्री कीर्त क्लान्त क्लेश म्लान, स्वप्न स्पर्श हर्ष र्ह गर्हे षु (३-६२) इस सूत्र से 'इ' होकर अ+र्+इ+हः यह रूप बना तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओकार होकर 'अरिहो' यह रूप सिद्ध होता है।

२० अलाहि—

इसकी संस्कृत प्रकृति 'अलम्' है जिसका अर्थ निवारण या मना करना होता है। यह अव्यय है और 'निपात्' शब्द है। प्राकृत भाषा में 'अलाहि निवारणे' (९-११) इस सूत्र से अलम् के अर्थ में 'अलाहि' यह निपात् हो जाता है। निपात् शब्दों में उनकी सिद्धि का प्रकार निर्दिष्ट नहीं किया जाता।

२१ अलिअं—

इसकी प्रकृति 'अलीकम्' है जिसका अर्थ असत्य या झूंठ होता है। सर्व प्रथम 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१८), इस सूत्र से ई को छोटा इ (ह्रस्व) हो गया और फिर 'क ग च ज तद पथवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर और 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने हर—'अलिअं' यह रूप सिद्ध होता है।

२२ अल्हादो—

इसकी प्रकृति 'आह्लाद' है जिसका अर्थ प्रसन्नता या आनन्द है। सर्व प्रथम 'ह्र ह्ल ह्लेषु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) इस सूत्र से ह में नीचे लगा हुआ ल ऊपर होकर आ+ल+हा+द ऐसा होता है—तब 'सन्धा वचा मज्लोप यिशेषाबहुलम्' (४-१) इस सूत्र से आ के स्थान पर अ हो गया और फिर 'अत ओत् सोः (५-१) इस सूत्र से 'ओ' हो कर 'अल्हादो' यह रूप बनता है।

२३ अवरण्हो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'अपराह्णः' है जिसका अर्थ दोपहर के बाद का समय होता है सन्ध्या से पूर्व तक का। सबसे पूर्व 'पोवः' (२-१५) इस सूत्र से 'प' को 'व' होने पर तथा 'सन्धावचा मज्लोप विशेषाबहुलम्' (४-१) इस सूत्र से 'रा' को 'र' होने पर अ+ब+र+ह्णः यह बनता है। उपरान्त 'ह्र, ह्ल, ह्लेषु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) इस सूत्र से न की ऊर्ध्व स्थिति होने पर अ+व+र+न+हः यह रूप बनता है तब 'नोणः सर्बत्र' (२-४२) इस सूत्र से न् को ण् होने पर तथा 'अत् ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'अवरण्हो' यह रूप सिद्ध होता हैं।

२४ अवत्तो—

इसकी संस्कृत की प्रकृति 'आवर्त्तः' है जिसका अर्थ 'बार बार किसी वस्तु का आना' होता है। प्रथम 'सन्धावचामज्लोप विशेषावहुलम्' (४-१) इस सूत्र से 'आ' को 'अ' हो जाता है फिर 'सर्वत्रलवराम्' (३-२) इस सूत्र से र का लोप होने पर 'अवतः' यह शेष रहता है। पुनः 'शेषादेशपोद्वित्वमना दौ' (३-५०) से त को द्वित्व हुआ और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओकार होकर 'अवत्तो' यह रूप सिद्ध होता है। 'न धूर्ता दिषु' (३-२४) इस सूत्र से त को ट नहीं होता नहीं तो 'तंस्यटः' (३-२) से तं को ट होना चाहिये था।

२५. असिवं असिव्वं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'अशिवम्' है। प्रथम शषोः सः (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'सेवादिषु च' (३-५२) इस सूत्र से विकल्प से व को द्वित्व होने पर 'असिवं' तथा 'असिव्वं' ये दो रूप बनते हैं।

२६. अहिमुंको—

इसकी मूल प्रकृति 'अभिमुक्तः' है जिसका अर्थ स्वतन्त्र या निर्बाध होता है। सर्वप्रथम 'ख घ थ धभां हः' (२-२७) इस सूत्र से भ के स्थान पर ह हुआ तब 'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्' (३-१) इस सूत्र से त् का लोप हो गया और 'वक्रादिषु' (१-१५) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'अहिमुकों' रूप बनता है।

२७. आइदी—

इसकी मूल प्रकृति 'आकृतिः' है जिसका अर्थ आकार या शक्ल होता है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप हो गया और 'इदृष्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर 'इ' होने पर 'ऋत्वादिषु तो दः' (२-७) इस सूत्र से त को द हो गया और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से अन्त की इ को दीर्घ होने पर 'आइदी' रूप सिद्ध हुआ।

२८. आउदी—

इसकी मूल प्रकृति 'आवृतिः' है जिसका अर्थ एक बार से अधिक उसी बात का होना है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१-२९) इस सूत्र से ऋ को 'उ' हो गया। तब ऋत्वादिषु तो दः (२-७) इस सूत्र से त को द होने पर 'आउदि' यह रूप बना। तत्पश्चात् 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से अन्त की इ को दीर्घ होने पर 'आउदी' रूप सिद्ध होता है।

२९. आणत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'आज्ञप्तिः' है जिसका अर्थ आज्ञा या आदेश होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्' (३-१) इस सूत्र से प् का लोप होने पर 'ज्ञ न ज्ञ पञ्चशत पञ्चदशेषुणः' (३-४४) इस सूत्र से 'ज्ञ' को 'ण' हो गया। तब 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से त् को द्वित्व हो गया और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घ' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'आणत्ती' रूप सिद्ध होता है।

३०. आणा—

इसकी मूल प्रकृति 'आज्ञा' है। 'म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषुणः' (३-४४) इस सूत्र से ज्ञ के स्थान पर ण् होने पर 'आणा' यह रूप बनता है। इसमें 'शेषादेश यो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से द्वित्व प्राप्त था पर 'आज्ञोञ्जस्य' (३-५५) इस सूत्र से द्वित्व का निषेध होने पर 'आणा' यह रूप ही बनता है।

३१. आदरो—

इसकी मूल प्रकृति 'आदरः' है। इसमें 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'आदरो' यह रूप बनता है।

३२. आपेलो, आमेलो—

इन दोनों रूपों की मूल प्रकृति 'आपीडः' हैं जिसका अर्थ चोटी या शेखर होता है। सर्व प्रथम 'एन्नीडापीडकीदृगीदृशेषु' (१-१९) इस सूत्र से इ के स्थान पर 'ए' यह हो जाता है और 'आपीडे मः' (२-१६) इस सूत्र से प के स्थान पर 'म' होता है। 'डस्य च' (२-२३) इस सूत्र से ड के स्थान पर ल् होकर तथा अत ओत् सोः (५-१) इस सूत्र से ओ होकर 'आमेलो' यह शब्द सिद्ध होता है। किन्हीं आचार्यों के मत से प के स्थान पर म विकल्प से होता हैं उस अवस्था में 'आपेलो' यही रूप बनता है।

३३. आहिजाई, अहिजाई—

इनकी मूल प्रकृति 'अभिजातिः' है जिस का अर्थ उच्च कुल या कुलीन जाति होता है। सर्व प्रथम 'ख घ थ धभां हः' (२-२७) इस सूत्र से भ को 'ह' होने पर 'क ग च ज तद प य वां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से त का लोप हो गया और 'अ हि जा इ' यह रूप बना। तब 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से इ को दीर्घ होने पर और 'आ सामृद्ध्यादिषुवा' (१-२) इस सूत्र से विकल्प से 'अ' को 'आ' होने पर अहिजाई और आहिजाई ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

३४. इंगालो—

इसकी मूल प्रकृति 'अङ्गारः' है। जिसका अर्थ 'अंगारा' होता है। सर्व प्रथम 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाऽङ्गारेषु' (१-३) इस सूत्र से 'अ' को इ होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) इस सूत्र से ङ् को विन्दु (ं) हुआ। फिर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) इस सूत्र से र के स्थान पर ल होने पर और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'इंगालो' यह प्रयोग बनता है।

३५. इङ्गिअज्जो, इङ्गिअण्णो—

इन शब्दों की मूल प्रकृति 'इङ्गितज्ञः' है जिसका अर्थ 'संकेतों या इशारों से ही तात्पर्य को समझ जाने वाला व्यक्ति होता है' 'कुशल या चतुर अर्थ में इसका प्रयोग होता है। सर्व प्रथम 'इङ्गि अज्जो' में 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से विकल्प से ञ होने पर 'सर्व ज्ञतुल्येषुञः' (३-५) इस सूत्र से ञ का लोप होने पर 'क ग च ज त द पय वां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से त का लोप होने पर 'शेषादेशयो र्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ज को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'इङ्गि अज्जो' यह रूप बनता है। इङ्गिअण्णों में 'सर्व ज्ञेङ्गित ज्ञयोर्णः' (१२-८) इस सूत्र से 'ण्' होने पर और पूर्ववत् 'कग च ज तद पय वां प्रायोलोपः (२-२७) इस सूत्र से त का लोप होने पर तथा 'शेषादेशयो र्द्वित्वमनायो' (३-५०) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'इङ्गि अण्णो' यह रूप बनता है। 'यथितद्वर्गान्त्रः' (४-१७) इस सूत्र से ङ् को बिन्दु (ं) होने पर इङ्गि अज्जो या इङ्गि अण्णो ये रूप भी बनते हैं।

३६. इत्थी—

इसकी मूल प्रकृति 'स्त्री' है। शौरसेनी प्राकृत में 'स्त्रियामित्थी' (१२-२२) इस सूत्र से स्त्री शब्द के स्थान पर 'इत्थी' यह आदेश हो जाता है। किन्हीं आचार्यों के मत में इत्थी के त्थ् को ट् ठ् होने पर 'इट्ठी' यह रूप बनता है।

३७. इसी—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋषिः' है। सर्व प्रथम 'इदृत्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर 'इ' हो जाता है इसके बाद 'शषोः सः' (२-४३) इस सूत्र से ष् को स हो गया और सुभिस्सुप्सु दीर्घः (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ हो गया 'इसी' रूप बनता है।

३८. इस्सरो, ईसरो—

इनकी मूल प्रकृति 'ईश्वरः' है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर 'सेवादिषु च' (३-५९) इससे स् को विकल्प से द्वित्व होने पर और 'संयोगेहस्वः' (८-१-८४) (हेमचन्द्र) इससे ई का छोटा इ होने पर इ+स्+स्+रः हुआ तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'इस्सरो' यह रूप बनता है- जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'शषोः सः' (२-४-३) इस सूत्र से स होने पर संयोग न होने से ई को इ नहीं होता और 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'ईसरो' यह रूप सिद्ध होता है।

३९. ईसालू—

इसकी मूल प्रकृति 'ईर्षावत्' है जिसका अर्थ 'मतुप्' प्रत्यय होने से ईर्ष्या वाला होता है। इसमें मतुप् के स्थान पर 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्ता मतुपः' (४-२५) से आलु, इल्ल, उल्ल, ऊल, आल, वन्त, इन्त ये आदेश होते हैं- आलु होने पर 'शषोः सः' (२-४३) इस सूत्र से ष को स् होने पर तथा सर्वत्र लवराम् (३-३) इस सूत्र से र का लोप होने पर तथा 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर 'ईसालू' यह रूप बनता है।

४०. उक्केरो—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्करः' है जिसका अर्थ धान्य का पुञ्ज या ढेर होता है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) इस सूत्र से त् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से क को द्वित्व होने पर 'ए शय्यादि षु' (१-५) इस सूत्र से ए होने पर और 'अतओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओकार होने पर 'उक्केरो' यह रूप सिद्ध होता है।

४१. उच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'उक्षन्' है जिसका अर्थ बैल है। सर्वप्रथम 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इससे क्ष को छ हो गया और 'अन्त्यहलः' (४-६) इससे त् का लोप होने पर शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर और 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से प्रथम छ को च् होने पर तथा सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर 'उच्छा' यह शब्द सिद्ध होता है।

४२. उच्छू—

इसको मूल प्रकृति 'इक्षु' है जिसका अर्थ ईख या गन्ना है। सर्वप्रथम 'उदिक्षुवृश्चिकयोः' (१-१५) इस सूत्र से इ के स्थान पर उ हो जाता है और 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से च्छ होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'उच्छू' यह रूप सिद्ध होता है।

४३. उज्जुओ—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋजुकः' है जिसका अर्थ कोमल वृत्ति वाला है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर 'उ' हो जाता है फिर 'कगच जतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप होने पर 'उजुअः' यह शेष रहता है। तब 'नीडादिषुच' (३-५२) इस सूत्र से ज् को द्वित्व हो जाता है और 'अत् ओत सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर

'उज्जुओ' यह रूप बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'ऋणज्वृषभवृ षौवा' इस सूत्र से ऋ को रि होने पर विकल्प से रिज्जू और उज्जू में दो रूप बनते हैं। इनमें 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' इससे दीर्घ हो जाता है और अन्त 'क' का लोप होकर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

४४. उत्तरीअं उत्तरिज्जं---

इन शब्दों की मूल प्रकृति 'उत्तरीयम्' है जिसका अर्थ दुपट्टा होता है। 'कग चज तद पय वां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से य का लोप होने पर और 'सोंविन्दुर्न पुंस के' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'उत्तरीं अं' यह रूप बनता है इस रूप में य के स्थान पर 'ज्ज' नहीं होता। पर जब 'उत्तरीया नीययोज्जोवा' (२-१७) इस सूत्र से य के स्थान पर 'ज्ज' होने से और 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से री को ह्रस्व होने पर तथा 'सोंविन्दुर्न पुंसके' (४-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'उत्तरिज्जं' यह रूप बनता है।

४५. उदू--

इसकी मूल प्रकृति 'ऋतुः' है। सर्व प्रथम **उदृत्वादिषु**' (१-२९) इस सूत्र से 'ऋ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है और 'ऋत्वादिषुतोदः (२-७) इस सूत्र से त को द होने पर और 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'उदू' यह रूप बनता है।

४६. उप्पलं--

इसकी मूल प्रकृति 'उत्पलम्' है जिसका अर्थ कमल होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः क ग ड त द प शताम्' (३-१) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३-५०) से प को द्वित्व होने पर तथा 'सोंविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'उप्पलं' यह रूप सिद्ध होता है।

४७. उम्बरं—

इसकी मूल प्रकृति 'उदुम्बरम्' है जिसका अर्थ गूलर या तामा होता है। 'उदुम्बरे दोर्लोपः' (४-२) इस सूत्र से दु का लोप होने पर तथा 'सोंविन्दुर्नपुंस' के (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'उम्बरं' यह रूप बनता है।

४८. उह्मा—

इसकी मूल प्रकृति 'उष्मन्' है जिसका अर्थ 'गर्मी' होता है। 'ष्ममपक्ष्म विस्मयेषुम्हः' (३-३२) इस सूत्र से 'ष्म' के स्थान पर 'म्ह' आदेश होता है

और 'अन्त्यहल': (४-६) इससे न् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'उल्हा' यह रूप सिद्ध होता है।

४९. उप्पाओ—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्पातः' है। सर्व प्रथम 'कग चज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से दोनों त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से प को द्वित्व होकर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओकार होकर 'उप्पाओ' यह रूप बनता है।

५०. ओखलं, उलूखलं—

इनकी मूल प्रकृति 'उलूखलम्' है। सर्व प्रथम 'उलूखलेल्वा वा' (१-२१) इस सूत्र से उलू के स्थान पर विकल्प से 'ओ' हो जाता है और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'ओखलं' यह रूप बनता है और जब 'ओ' नहीं होता है तब 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होकर 'उलूखलं' बनता है।

५१. उस्सवो—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्सवः' है। सबसे पूर्व 'उपरिलोपः कग डतदप शसाम्' (३-१) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से स् को द्वित्व होकर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओकार होकर 'उस्सवो' यह रूप बनता है। इसमें श्चत्सप्सांछः' (३-४०) इस सूत्र से त्स को 'छ' होना चाहिये था पर 'नोत्सुकोत्सवयोः' (३-४२) इस सूत्र से निषेध होने से नहीं होता तथा 'कग चज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से व का लोप हो सकता था पर सूत्र में (प्रायो)- प्रायः होने से कहीं पर होता है और कहीं पर नही होता।

५२. उस्सुओ—

इसकी मूल प्रकृति 'उत्सुकः' है। सर्व प्रथम 'कग चज तद पयवां प्रायोलोप' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप हुआ और 'उपरिलोपः कगडतदप शसाम्' (३-१) इस सूत्र से त का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से स् को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'उस्सुओ' यह रूप बनता है।

५३. एआरह—

यह शब्द संस्कृत के 'एकादश' से बना है जिसका अर्थ ११ होता है। सर्व प्रथम 'संख्यायाच्च' (२-१४) इस सूत्र से द के स्थान पर 'र' हुआ और

कग चज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप होने पर 'दशादिषुहः' (२-४४) इस सूत्र से श को ह हो गया और इस प्रकार 'एआरह' यह रूप बना।

५४. एरावणो—

इसको मूल प्रकृति 'ऐरावतः' है जिसका अर्थ इन्द्र का हाथी है (अर्थात् इन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत है)। सर्व प्रथम 'ऐत्एत्' (१-३५) इस सूत्र से 'ऐ' के स्थान पर 'ए' हुआ और फिर 'ऐरावतेच' (२-११) इस सूत्र से त के स्थान पर ण होने पर 'अत ओत् सोः" (५-१) इस सूत्र से 'ओ, होने पर 'एरावणो' यह रूप बनता है।

५५. ओहासो, अवहासो—

इन रूपों की मूल प्रकृति 'अवहासः' है जिसका अर्थ हंसी या उपहास होता है। 'ओहासो' में 'ओदवापयो.' (४-२१) इस सूत्र से अव के स्थान पर ओ हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'ओहासो' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में 'अव' को 'ओ' नही होता वहां 'अवहासो' यही रूप बनता है।

५६. कइअवो—

इसका प्रकृत रूप संस्कृत में 'कैतवः' होता है जिसका अर्थ छल या कपट है। सर्वप्रथम 'दैत्याविष्वइ' (१-३६) इस सूत्र से कै के ऐ को 'अइ' यह हो जाता है और 'कग चज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कइअवो' यह रूप सिद्ध होता है।

५७. कई—

इसकी मूल प्रकृति 'कपिः' है जिसका अर्थ बन्दर है। इसमें 'कग चज-तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से प् का लोप हो गया और 'सुभिस्सु-प्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'कई' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

५८. कउरवो—

इसकी मूल प्रकृति 'कौरवः' है जिसका अर्थ कुरु के पुत्र होता है (दुर्योधन आदि कौरव थे) सर्व प्रथम 'पौरादिष्वउ' (१-४२) इस सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'अउ' हो जाता है। तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कउरवो' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

५८. कोसलो, कउसलो—

इनकी मूल प्रकृति 'कौशलम्' है जिसका अर्थ चातुर्य या चतुरता होता है। सर्व प्रथम 'पौराविष्वउ' (१-४२) इस सूत्र से 'औ' के स्थान पर 'अउ' होने से तथा 'शषोः सः' (२-४३) इस सूत्र से देशको स् होने पर 'अत ओत्-सोः (५-१) इससे ओकार होने पर 'कउसलो' यह रूप बनता है पर 'औ' को अउ विकल्प से होता है अतः जिस पक्ष में 'औ' का 'अउ' नहीं होता वहां 'औत् ओत्' (१-४१) इस सूत्र से औ को 'ओ' होने पर 'कोसलो' यह रूप बनता है।

६०. कज्जं, कच्चं—

इन शब्दों की मूल प्रकृति कार्यम्' है। जिसका अर्थ कार्य या काम है। सर्व प्रथम 'सन्धावचा मज्लोप विशेषाबहुलम्' (४-१) इस सूत्र से का के 'आ' को 'अ' हो गया और 'र्यशय्या भिमन्युषुजः' (३-१७) इस सूत्र से र्य के स्थान पर 'ज' होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमना दौ' (३-५०) इस सूत्र से ज को द्वित्व होकर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) हो कर 'कज्जं' यह रूप बनता है।

पैशाची प्राकृत में इसका रूप 'कच्चं' बनता है 'ज्ज च्च' (१०-११) इस सूत्र से 'ज्ज' के स्थान पर 'च्च' होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'कच्चं' यह रूप बनता है।

६१: कञ्जा—

इसकी मूल प्रकृति 'कन्या' है जिसका अर्थ लड़की है। प्राकृत भाषा में इसका रूप 'कञ्जा' बनता है। इसमें 'कन्यायां न्यस्य' (१०-१०) इस सूत्र से न्य के स्थान पर 'ञ्ज' आदेश हो जाता है और 'कञ्जा' यह प्रयोग बनता है।

६२: कढोरं—

इसकी मूल प्रकृति 'कठोरम्' है। इसमें ठोढः (२-२४) इस सूत्र से ठ के स्थान पर ढ हो जाता है और 'कढोरं' बनता है। 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु हो जाता है।

६२. (२) कणअं—

इसकी मूल प्रकृति 'कनक ृ' है जिस का अर्थ सोना है। सर्व प्रथम 'णोनः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न को ण हो जाता है और 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से दूसरे 'क' का लोप होने पर 'सो विन्दुर्नपुसंके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'कणअं' यह रूप बनता है।

६३. कण्णिआरो, कणिआरो—

इनकी मूल प्रकृति **'कर्णिकारः'** है जिसका अर्थ कनेर होता है। सर्व प्रथम **'सेवादिषु च'** (३-५८) इस सूत्र से ण् को द्वित्व विकल्प से होकर **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-१) इस सूत्र से क का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर **'कण्णिआरो'** यह रूप बनता है। जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां सब कार्य पूर्ववत् होता है और **'कणिआरो'** यह रूप बनता है।

६४ कण्णउरं कण्णऊरं—

इन दोनों की मूल प्रकृति **'कर्णपूरम्'** है जिसका अर्थ कान का आभूषण है। इसमें **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर **'शेषादेशयो-द्वित्वमनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर **'क ग च ज तद पयवांप्रायोलोपः'** (१-२) इस सूत्र से प् का लोप होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) इससे विन्दु (ं) होने पर **'कर्णऊरं'** यह रूप बनता है। पर **'सन्धावचामज्लोपविशेषाबहुलम्'** (४-१) इस सूत्र से विकल्प से अच् विधि होने पर—ऊ को छोटा **'उ'** होने पर **'कण्णउरं'** यह रूप बनता है। अन्य सर्व कार्य **'कण्णऊरं'** के समान है।

६५ कणेरू—

इसकी मूल प्रकृति **'करेणुः'** है जिसका अर्थ **'हथिनी'** होता है। सर्व प्रथम **'करेण्वांरणोः स्थिति परिवृत्तिः'** (४-२८) इस सूत्र से र तथा ण के स्थान में परिवर्तन हो जाता है अर्थात ण पहले हो आता है और र बाद में और **'सुभिस्सुप्सुदीर्घः'** (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर **'कणेरू'** यह रूप बनता है।

६६ कण्हो, कसणो—

इन दोनों शब्दों की मूल प्रकृति **'कृष्णः'** है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत् (१-२७) इस सूत्र से **'ऋ'** को **'अ'** हो गया और फिर **'कृष्णेवा'** (३-६१) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण **'ष्ण'** को विप्रकर्ष हो गया अर्थात ष ण अलग-अलग हो गये **'शषोः सः'** (२-४३) इस सूत्र से **'ष'** को **'स'** होने पर तथा **'अत ओत्सोः'** (५-१) इससे 'ओ' होने पर **'कसणो'** यह रूप बनता है। जिस स्थान पर **'ष्ण'** का षण (विप्रकर्ष) नहीं होता क्योंकि **'कृष्णेवा'** (३-६१) से विकल्प से होता है वहां **'ह्न स्न ण्ण ष्ण ज्ञनांण्हः'** (३-३३) इस सूत्र से **'ष्ण'** को **'ण्ह'**

होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'कण्हो' यह रूप बनता है।

६७ कन्दोट्ठो—

इस शब्द की मूल प्रकृति 'उत्पलम्' है जिसका अर्थ कमल होता है। प्राकृत भाषाओं के समय में देशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी जन साधारण में होने लगा था। यद्यपि प्राकृत वैयाकरण वररुचि ने विस्तार से इन देशी भाषाओं के सम्बन्ध में अपने 'प्राकृत प्रकाश' में विचार नहीं किया है परन्तु उन्होंने 'दाढादयो बहुलम्' (४-३३) इस सूत्र में दाढादि शब्दों का प्रयोग प्राकृत भाषाओं में होना स्वीकृत किया है। दाढादि में आदि शब्द से उनका अभिप्राय उन्हीं देशी शब्दों से है जो प्राकृत भाषाओं के समय में विशेष रूप से प्रयुक्त होने लगे थे। इसी आधार पर 'उत्पलम्' के स्थान पर 'कन्दोट्ठो' शब्द का प्रयोग भी होने लगा था। इस प्रकार की संकीर्ण विधियां प्रयुक्त होती थीं।

६८ कमंधो—

इसकी मूल प्रकृति 'कबन्धः' है जिसका अर्थ शरीर के सिर के नीचे का भाग जिसे 'धड़' कहते हैं होता है। प्राकृत में 'कबन्धे बोमः' (२-१९) इस सूत्र से 'ब' को 'म' हो जाता है और 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) इस सूत्र से बिन्दु होकर 'अत ओत् सोः' (५-६) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कमंधो' यह रूप सिद्ध होता है।

६९ कम्मो—

इसकी मूल प्रकृति 'कर्म' है जिसका अर्थ काम होता है। सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से द्वित्व होने पर तथा 'नसान्त प्रावृट्सरदः पुंसि' (४-१८) इस सूत्र से पुल्लिग होने से 'अत ओत् सोः' (५-३) इससे 'ओ' हो जाने पर 'कम्मो' यह रूप बनता है।

७० कंसो, कम्सो—

इनकी प्रकृति 'कंसः' है। 'नजोर्हलि' (४-१४) इस सूत्र से बिन्दु हो जाता है और 'अत ओत् सोः (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'कंसो' यह रूप बनता है—इसी सूत्र से म् भी होता है तब इसका रूप 'कम्सो' बनता है।

७१ कय्ये—

इसकी मूल प्रकृति 'कार्यम्' है। सर्व प्रथम ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द) इस सूत्र से आ, को अ होने पर 'यॅर्जयोऽयः' (११-७) इस सूत्र से 'र्य' के

स्थान पर 'य्य' होने पर 'अत इदेतौ लुक् च' (११-१०) इस सूत्र से 'ए' होने पर 'कय्ये' यह रूप बनता है।

७२ कलंबो—

इसकी मूल प्रकृति 'कदम्बः' है जिसका अर्थ एक विशेष पेड़ या 'झुण्ड' भी है। 'प्रदीप्त कदम्ब दोहदेषु दो लः' (२-१२) इस सूत्र से द को ल होता है और 'यथितद्वर्गान्तः (४-१७) इससे बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर कल 'म्बो' यह रूप सिद्ध होता है।

७३. कलुणं—

इसकी मूल प्रकृति 'करुणम्' है जिसका अर्थ करुणा या दया होता है। सर्वप्रथम 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) इस सूत्र से र को ल होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'कलुणं' यह रूप बनता है।

७४. काहावणो—

इसकी मूल प्रकृति 'कार्षापनः' है जिसका अर्थ १ तोले का चांदी का सिक्का (रुपया) होता है। सर्वप्रथम 'पोवः' (२-१५) इस सूत्र से 'प' के स्थान पर व हो जाता है और 'कार्षापणे' (३-३९) इस सूत्र से र्ष के स्थान पर ह होता है और 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न के स्थान पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'काहावणो' यह रूप सिद्ध होता है।

७५. किच्चा—

इसकी मूल प्रकृति 'कृत्या' है जिसका अर्थ विनाशकारी मूर्त्ति है। सर्वप्रथम 'इदृइयादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर इ होकर 'कि' रूप बनता है तब 'त्यथ्यद्यांच्छजाः' (३-२७) इस सूत्र से 'त्य' के स्थान पर ण् होने पर 'च' हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से च को द्वित्व होकर 'किच्चा' यह रूप बनता है।

७६. कित्ति—

इसकी मूल प्रकृति 'कीर्तिः' है जिसका अर्थ यश है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' इस सूत्र से त् को द्वित्व होकर 'ईदूतोर्ह्रस्वः' (५-२९) इस सूत्र से बड़ी ई को इ होकर कित्ति यह रूप बनता है। इसमें 'न धूर्तादिषु' (३-२४) इस सूत्र से त के स्थान पर 'र्तस्यटः' (३-२२) इस सूत्र से प्राप्त ट् नहीं होता है।

७७. किलिट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्लिष्टम्' है जिसका अर्थ कठिन होता है। सर्व-प्रथम 'क्लिष्टक्लिष्टरत्नक्रिया शाङ्गेषु तत् स्वरवत् पूर्वस्य' (३-६०) इस सूत्र से युक्त का विप्रकर्ष हो जाता है और 'क्लि' कृलि होकर पूर्व वर्ण की तत्स्वरता होती है अर्थात् पूर्वस्वर के साथ पूर्व वर्ण युक्त हो जाता है इस प्रकार कि+लि+ष्टः बनता है। तब ष्टस्यठः (३-१०) इस सूत्र से ष्ट के स्थान पर ठ हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ठ् को द्वित्व होकर 'वर्गेषुयुजःपूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से ठ् को ट होकर सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होकर 'किलिट्ठं' यह रूप बनता है।

७८. किलेसो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्लेशः' है। सर्व प्रथम 'इःश्रीह्री कीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षाहंगर्हेषु' (३-६२) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण का विप्रकर्ष हो जाता है और पूर्व को इकार तथा तत्स्वरता होती है। 'शषोःसः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'किलेसो' यह रूप सिद्ध होता है।

७९. किवा—

इसकी मूल प्रकृति 'कृपा' है। सर्वप्रथम 'इदृश्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ के स्थान पर इ होकर 'कि' हुआ तब 'पोवः' (२-१५) इस सूत्र से प को व होकर 'किवा' यह रूप सिद्ध होता है।

८०. किसी—

इसकी मूल प्रकृति 'कृषिः' है जिसका अर्थ खेती है। सबसे पूर्व 'शषोःसः' (२-४५) इस सूत्र से ष् को स हुआ तब 'इदृश्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ को 'इ' होकर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होकर 'किसी' यह रूप सिद्ध हुआ।

८१. कुअलअं, कुवलअं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'कुवलयं' है जिसका अर्थ कमल है। सर्वप्रथम 'यावदादिषु वस्य' (४-५) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से य का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर 'कुअलअं' यह शब्द सिद्ध होता है। पर 'यावदादिषु वस्य' (४-५) इस सूत्र से व का लोप विकल्प से होता

है अतः जहां व् का लोप नहीं होता वहां 'कुवलअं' यह रूप सिद्ध हो जाता है।

८२. कुक्खेअओ—

इसकी मूल प्रकृति 'कौक्षेयकः' है जिसका अर्थ तलवार या खड्ग होता है। सर्वप्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१-४४) इस सूत्र से 'औ' को उ होता है। तब 'ष्कस्कक्षां खः' (३-२९) इस सूत्र से क्ष के स्थान पर ख् होता है और फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ख् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु पुजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ख् को क होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से य् तथा क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कुक्खेअओ' यह रूप बनता है।

८३. कुच्छी—

इसकी मूल प्रकृति 'कुक्षिः' है जिसका अर्थ 'कोख' या बगल होता है। सर्वप्रथम 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से 'क्ष' को 'छ' होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से छ् को द्वित्व हुआ और 'वर्गेषुपुयजः-पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से छ् को च् होने पर तथा 'सुमिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'कुच्छी' यह रूप सिद्ध होता है।

८४ कुम्भारो, कुम्भआरो—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'कुम्भकारः' है जिसका अर्थ 'कुम्हार' या मिट्टी के बर्तन बनाने वाला है। सर्व प्रथम 'क ग च ज तदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से 'कार' के 'क' का लोप होने पर 'अत ओत सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'कुम्भ आरो' यह रूप बनता है। परन्तु 'सन्धा वचाम-ज्लोपविशेषाबहुलम्' (४-१) इस सूत्र से भ के आगे 'अ' का लोप होने पर और 'भ' के 'आ' से मिल जाने पर 'कुम्भारो' यह रूप सिद्ध होता है।

८५ केढवो—

इसकी मूल प्रकृति 'कैटभः' है। कैटभ नाम का एक राक्षस था जिसको श्रीकृष्ण ने मारा था। सर्व प्रथम 'सटाशकटकैटभेषु ढः' (२-२१) इस सूत्र से ट के स्थान पर ढ हुआ और 'ऐतएत्' (१-३५) इस सूत्र से कै के ऐ को 'ए' हो गया। तब 'कैटभेवः' (२-२९) इस सूत्र से 'भ' को 'व' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'केढवो' सिद्ध होता है।

८६ केलासो —

इसकी मूल प्रकृति 'कैलासः' है। प्रथम 'ऐत एत्' (१-३५) इस सूत्र से

'ऐ' को 'ए' हो गया और 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर केलासो यह रूप बनता है।

८७ केवट्टओ—

इसकी मूल प्रकृति 'कैवर्तक' है जिसका अर्थ धीवर या मछली मारने वाला है। सर्व प्रथम 'ऐत एत्' (१-३५) इस सूत्र से ऐ को ए हो गया और फिर 'तस्यटः' (३-२२) इस सूत्र से त को ट हुआ। 'शेषादेशयोर्द्वित्व-मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ट् को द्वित्व होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२-२) इससे क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'केवट्टओ' यह रूप बनता है।

८८ कोमुई—

इसकी मूल प्रकृति 'कौमुदी' है जिसका अर्थ चांदनी है। सर्वप्रथम 'औत ओत्' (१-४१) इस सूत्र से औ को ओ हो जाता है और 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२-२) इस सूत्र से द् का लोप होने पर 'कोमुई' यह रूप बनता है।

८९ कोसंबी—

इसका मूल रूप 'कौशाम्बी' है। यह एक नगर का नाम है। सर्व प्रथम औत एत् (१-४१) इस सूत्र से औ को 'ओ' होता है और शषोसः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) इस सूत्र से बिन्दु होने पर तथा 'सन्धावचामज्लोपविशेषाबहुलम्' (४-१) इस सूत्र से ह्रस्व होने पर 'कोसंबी' यह रूप सिद्ध होता है।

९० कउसलो, कोसलो—

इसकी मूल प्रकृति 'कौशलम्' है। सर्व प्रथम 'पौरादिष्वउ' (१-४२) इस सूत्र से औ को 'अ उ' हो जाता है और 'शषोसः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर तथा 'अत ओत् सोः (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'कउसलो' यह रूप बनता है और जिस पक्ष में 'औ' को 'अ उ' नहीं होता वहां 'औत् एत्' (१-४१) इस सूत्र से ओ होकर 'कोसलो' यह रूप सिद्ध होता है।

९१ खग्गो—

इसका मूल शब्द संस्कृत का 'खड्गः' है जिसका अर्थ तलवार है। 'उपरिलोपः क ग ड त द पषसाम्' (३-१) इस सूत्र से ड् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ग को द्वित्व होने पर

'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र स 'ओ' होने पर 'खग्गो' यह रूप सिद्ध होता है।

६२ छणं, खणं—

इन शब्दों की मूल प्रकृति 'क्षणम्' है। सर्व प्रथम 'क्षमा वृक्ष क्षणेषु वा' (३-३१) इस सूत्र से विकल्प से क्ष के स्थान पर छ होता है। अतः छ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से बिन्दु होने पर छणं यह रूप बनता है और जहां छ नहीं होता वहां 'एकस्कक्षां खः' (३-२९) इस सूत्र से क्ष को ख होने पर 'खणं' यह रूप बनता है।

६३. खदो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षतः' है जिसका अर्थ घाव या चोट है। सर्वप्रथम 'एकस्कक्षांरवः' (३-२९) इस सूत्र से क्ष को ख होने पर 'ऋत्वादिषु तोदः' (२-७) इस सूत्र से त को द हुआ और 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'खदो' यह रूप बनता है।

६४. खंदो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्कन्दः' है। सर्वप्रथम 'एकस्कक्षांखः' (३-२९) इस सूत्र से स्क को ख होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१७) इस सूत्र से विन्दु होकर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होकर 'खंदो' यह रूप सिद्ध होता है।

६५. खमा छमा—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षमा' है। सर्वप्रथम 'क्षमा वृक्ष क्षणेषु वा' (३-३१) इस सूत्र से विकल्प से क्ष को छ होने पर 'छमा' यह रूप बनता है और जिस पक्ष में छ नहीं होता वहां 'एकस्कक्षां खः' (३-२९) इस सूत्र से 'ख' होकर 'खमा' यह रूप बनता है। हेमचन्द्र के विचार से 'छमा' का अर्थ पृथ्वी होता है और खमा का अर्थ क्षमा करना या 'माफी' होता है।

६६. खंभो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तम्भः' है जिसका अर्थ खंभा है। सर्वप्रथम 'स्तम्भे खः' (३-१४) से स्त के स्थान पर ख हो जाता है और 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) इस सूत्र से विन्दु हो कर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होकर 'खंभो' यह रूप बनता है।

६७, खलिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्खलितं' है जिसका अर्थ गिरना या फिसलना होता है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः कगडतद पयसाम्' (३-१) इस सूत्र से स् का लोप

होने पर 'कगचज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'खलिअं' यह रूप सिद्ध होता है।

९८. खाणू—

इसकी मूल प्रकृति 'स्थाणुः' है जिसका अर्थ खूंटा या ठूँठ है। सर्वप्रथम 'स्थाणावहरे' (३-१५)-इस सूत्र से स्थ के स्थान पर ख होने पर सुभिस्सुप्सु-दीर्घ (५-१८) इससे दीर्घ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

९९. खुज्जो—

इसकी मूल प्रकृति 'कुब्जः' है जिसका अर्थ कुबड़ा होता है 'कुब्जेखः' (२-३४) इस सूत्र से ख होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से व का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५० इस सूत्र से ज् को द्वित्व होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) इससे ओकार होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१००. खोडओ—

इसकी मूल प्रकृति 'फोटकः' है जिसका अर्थ फोड़ा है। सर्वप्रथम 'स्फोटके' (३-१६) इस सूत्र से स्फ को ख होकर 'टोडः' (२-२०) इस सूत्र से द् को ड् होने पर 'कगचजतद पयगं प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१०१. गअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'गगनम्' है जिसका अर्थ आकाश है। सर्व प्रथम 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से ग् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४३) इस सूत्र से न कोण होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'गअणं' यह रूप बनता है।

१०२. गआ—

इसकी मूल प्रकृति 'गदा' है। इसमें 'कगचजतद यवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से द् का लोप होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

१०३. गउखं—

इसकी मूल प्रकृति 'गौरवं' है इसमें 'पौराविष्वउ' (१-४२) इस सूत्र से औ को 'अउ' होने पर तथा 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'गउख' यह रूप सिद्ध होता हैं।

१०४. गओ—

इसकी मूल प्रकृति 'गज' है जिसका अर्थ हाथी है। इसमें 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से ज का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'गओ' बनता है।

१०५. गग्गरो—

इसकी मूल प्रकृति 'गद्गदः' है, जिसका अर्थ प्रसन्न होना होता है। सर्व प्रथम 'उपरिलोपः कगडतदप षसाम्' (३-१) इस सूत्र से द् का लोप होने पर और 'गद्गदेरः' (२-१३) इस सूत्र से अन्तिम द् को र होने पर 'शेषादेश-योर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ग् का द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'गग्गरो' यह रूप बनता है।

१०६. गड्डहो—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्दभः' है जिसका अर्थ गधा है। सर्व प्रथम 'गर्दभ संमई वितर्दि विच्छर्दि र्दस्य' (३-२६) से र्द के स्थान पर ड हो जाता है और फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (५-३०) इस सूत्र से ड को द्वित्व होने पर 'खघथधभांहः' (२-२७) इस सूत्र से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'गड्डहो' यह रूप बनता है।

१०७ गरिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'ग्रहः' है। सर्व प्रथम 'इ' श्री ह्रीक्रीत क्लान्त क्लेशम्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्हे गर्हेषु (३-६२) इस सूत्र से ग्र का विप्रकर्ष गर् हो जाता है और इ होकर गरि बनता है तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होकर 'गरिहो' यह रूप बनता है।

१०८. गरुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'गुरु' है। इसमें सर्व प्रथम 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) इस सूत्र से उ को अ होने पर 'जातौवास्वार्थिकः कः' (४-२५) से 'क' होने पर 'कग चज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्न पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'गरुअं' यह रूप सिद्ध होता है।

१०९ गरूई—

इसकी मूल प्रकृति 'गुर्वी' है जिसका अर्थ भारी या बोझ वाली वस्तु होता है —सर्व प्रथम 'अन् मुकुटादिषु' (१-२२) इस सूत्र से गु के उ को अ हो जाता है और 'उः पङ्गु तन्वी समेषु' (३-६५) इस सूत्र से 'र्व' को

विप्रकर्ष होने पर र व् हो जाता है और इसी सूत्र से उ भी हो जाता है। **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२–२) इस सूत्र से व का लोप होने पर **'गरुई'** यह रूप बनता है। **'उपद्मतन्वी समेषु'** (३-६५) इस सूत्र में यद्यपि गुर्वी शब्द नहीं है तो भी तन्वी के समान होने से गुर्वी का भी ग्रहण होता है।

११० गहवई—

इसकी मूल प्रकृति **'गृहपतिः'** है जिसका अर्थ घर का स्वामी है। सर्व प्रथम **'ऋतोऽत्'** (१-२७) इस सूत्र से ऋ को अ होता है। **'पोवः'** (२-१५) इस सूत्र से प को व होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) इस सूत्र से त् का लोप होने पर **'सुभिस्सुप्सु दीर्घः'** (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर **'गहवई'** यह रूप सिद्ध होता है।

१११ गहिरं—

इसकी मूल प्रकृति **'गभीरम्'** है। सर्व प्रथम **'इदीतः पानीयादिषु'** (१-१८) इस सूत्र से भी को 'भि' (इ) होने पर **'ख घ थ ध भां हः'** (२-२७) इस सूत्र से भ् को ह होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर **'गहिरं'** रूप बनता है।

११२ गारवं, गउरवं—

इन दोनों की मूल प्रकृति **'गौरवं'** है जिस का अर्थ यश या बड़ाई है। सर्व प्रथम **'आ च गौरवे'** (१-४३) इस सूत्र से गौ के औ के स्थान पर विकल्प से **'आ'** होने पर 'गारवम्' यह रूप बनता है। तब **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर गारवं बनता है पर जिस पक्ष में आ नहीं होता वहां **'पौरादिष्व उ'** (१-४२) इस सूत्र से **'औ'** को **'अउ'** होने पर पूर्ववत् विन्दु होने पर **'गउरवं'** यह रूप बनता है।

११३ गाहा—

इसकी मूल प्रकृति **'गाथा'** है जिसका अर्थ कथा है। **'खघथधभां हः'** (२-२७) इस सूत्र से **'थ'** को **'ह'** होने पर **'गाहा'** यह रूप बनता है।

११४ गिट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति **'गृष्टि'** है जिसका अर्थ एक कन्द विशेष होता है। सर्व प्रथम **'इदृष्यादिषु'** (१-२८) इस सूत्र से गृ के ऋ को इ होकर **'ष्टस्य ठः'** (३-१०) इस सूत्र से ष्ट के स्थान पर ठ होकर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होकर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र

से पूर्व ठ् को ट् होकर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होकर 'गिट्ठी' यह रूप सिद्ध होता है।

११५ गिद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'गृद्धः' है। सर्व प्रथम 'इगृध्रसमेषु' (१२-६) इस सूत्र से गृ के ऋ को इ होकर गि हो जाता है और फिर 'उपरिलोपः कग डतदप-वसाम्' (३-१) इससे द् का लोप होने पर और 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् को म् लोप होने पर 'गिध्' यह शेष रहा। तब 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) सूत्र से ध् को द्वित्व होने पर 'वर्गान्तेषु युज पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से प्रथम ध् को द् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'गिद्धो' यह रूप सिद्ध होता है।

११६ गिम्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'ग्रीष्मः' है। सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इससे ई को इ होने पर 'ष्म पक्ष्मविस्मयेषुम्हः' (३-३२) इस सूत्र से 'ष्म' को 'म्ह' होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'गिम्हो' यह रूप सिद्ध होता है।

११७ गुंठी—

इसकी मूल प्रकृति 'गृष्टि' है जिसका अर्थ प्रथम प्रसूता गाय है सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) इस सूत्र से 'ऋ' को 'उ' होने पर 'ष्टस्थठः' (३-१०) इस सूत्र से ष्ट को 'ठ' होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) इस सूत्र से विन्दु (ं) हो जाने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर 'गुंठी' यह रूप सिद्ध होता है।

११८ गुज्झओ—

इसकी मूल प्रकृति "गुह्यकः' है जिसका अर्थ एक विशेष देवयोनि है। सर्व प्रथम 'ध्य ह्योर्झः' (३-२८) इस सूत्र से ह्य के स्थान पर 'झ' हो जाता है और फिर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इससे झ को ज् होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः' (२-२) इससे क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'गुज्झओ' यह रुप सिद्ध होता है।

११९ गोट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'गोष्ठी' है जिसका अर्थ मण्डली या झुण्ड ही सम्प्रति प्रचलित है। सर्व प्रथम 'उपरि लोपः क ग ड त द प वसाम्' (३-१) इस

सूत्र से ष् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ठ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से प्रथम ठ् को ट् होने पर 'गोट्ठी' यह रुप बनता है।

१२०. गोला—

इसकी मूल प्रकृति 'गोदावरी' हैं। एक नदी का नाम है। देशी भाषाओं में गोदावरी के लिये गोला का प्रयोग होता था अतः 'दाढादयो बहुलम्' (४-३३) इस सूत्र में वैयाकरण वररुचि ने गोला शब्द को 'गोदावरी' शब्द के लिए निपात रुप में प्रयुक्त किया है। इसी प्रकार के अन्य देशी शब्द भी निपात कोटि में आते हैं।

१२१. घणा—

इसकी मूल प्रकृति 'घृणा' है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) इस सूत्र से ऋ को अ होने पर 'नोणःसर्वत्र' (२-४१) इस सूत्र से ण होने पर 'घणा' बनता है। किन्हीं भाषाओं में न का प्रयोग था उस न के स्थान पर प्राकृत में ण होता है।

१२२. घरं—

इसकी मूल प्रकृति 'गृहम्' है। 'गृहेघरोऽपतौ' (४-३२) इस सूत्र से 'घर' होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१२३. चइत्ता—

इसकी मूल प्रकृति 'चैत्रः' है। यह एक महीने का नाम है जिसे 'चैत' कहते हैं। 'दैत्यादिष्वइ' (१-३९) इस सूत्र से 'ऐ' के स्थान पर 'अइ' होकर सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होकर 'अत ओत सोः' (५-१) इससे ओ होकर तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (५-५०) इस सूत्र से त् को द्वित्व होकर 'चइत्तो' यह रूप बनता है।

१२४. चउत्थी-चोत्थी-चोथी—

इसकी मूल प्रकृति 'चतुर्थी' है। 'चउत्थी' में सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः (२-२) इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से थ् को द्वित्व होने पर तथा 'वर्गेषुयुजःपूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व थ को त् होने पर 'चउत्थी' यह रूप बनता है। चोत्थी में 'चतुर्थी-चतुर्वश्योस्तुना' (१-९) इस सूत्र से 'ओ' होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

चौथी में 'क ग च ज त द प यवां प्रायोलोपः' (२-२) इससे त् का लोप होने पर यह रूप सिद्ध होता है ।

१२५. चडु, चाडु—

इनकी मूल प्रकृति 'चाटु' है जिसका अर्थ असत्य प्रशंसा है । इनमें 'अदातोयथादिषुवा' (१-१०) इस सूत्र से आ को विकल्प से अ होने पर चटु, चाटु यह होते हैं और 'टोडः' (२-२०) इस सूत्र से ट को ड होने पर ये दोनों रूप बनते हैं ।

१२६. चंदिमा—

इसकी मूल प्रकृति 'चन्द्रिका' है जिसका अर्थ चांदनी है 'चन्द्रिकायांमः' (२-६) इस सूत्र से क के स्थान पर म होता है और सर्वत्रलवरां (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'यथितद्वर्गान्तिः' (४-१७) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'चंदिमा' बनता है । 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से द को द्वित्व प्राप्त था पर 'न विन्दुपरे' (३-५६) इस सूत्र से निषेध हो जाता है ।

१२७. चंदो, चंद्रो—

इनकी मूल प्रकृति 'चन्द्रः' है । 'द्रेरोवा' (३-४) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'यथितद्वर्गान्तिः' (४-१७) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'चंदो' रूप बनता है । जिस पक्ष में र का लोप नहीं होता वहां और सब कार्य पूर्ववत् होकर 'चन्द्रो' यह रूप बनता है ।

१२८. चलणो—

इसकी मूल प्रकृति 'चरणः' है । इसमें हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) इस सूत्र से र को ल होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न को ण् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'चलणो' यह रूप बनता है । देशी भाषाओं में चरन भी प्रचलित है पर प्राकृत में ण ही होता है ।

१२९. चातुलिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'चातुर्यम्' है । 'दाढादयो बहुलम्' (४-३२) इस सूत्र से इस शब्द के दाढादिगण में होने से चातुलिअं' शब्द निपात् के रूप में प्रयुक्त होता है ।

१३०. चेंधं चिंधं—

इनकी मूल प्रकृति 'चिन्हम्' है । 'इत एत् पिण्ड समेषु' (१-१२) इस सूत्र से इ को ए विकल्प से होता है । चेंधं में ए होने पर

तथा 'चिन्हेंन्धः' (३-३४) इस सूत्र से 'न्ह' को 'न्ध' हो जाता है और 'सोर्विन्दु र्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'चेंधं' रूप बनता है। जिस पक्ष में ए नहीं होता वहां सब कार्य पूर्ववत् होकर चिंधं यह रूप बनता है।

१३१. चिहुरो—

इसकी मूल प्रकृति 'चिकुरः' है जिसका अर्थ बाल है। 'स्फटिकनिकष चिकुरेषुकस्यहः' (२-४) इस सूत्र से क को ह होकर 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होकर 'चिहुरो' यह रूप बनता है।

१३२. चिलादो—

इसकी मूल प्रकृति 'किरातः' है जिसका अर्थ 'भील' है सर्व प्रथम 'हरिद्रादीनां रो लः' (२-३०) इस सूत्र से र् के स्थान पर ल होने पर 'किरातेचः' (२-३३) इस सूत्र से क को च हुआ और 'ऋत्वादिषुतोदः' (२-७) इस सूत्र से त को द होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'चिलादो' यह रूप बना है।

१३३. चोरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'चौर्यम्' है। सर्व प्रथम 'चौर्यसमेषुरिअं' (३-२०) इस सूत्र से 'र्यं' को 'रिअं' यह आदेश होकर तथा 'औत ओत्' (१-४१) इस सूत्र से औ को ओ होकर 'चोरिअं' यह रूप बनता है।

१३४. छट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'षष्ठी' है। 'षट्शावक सप्तपर्णानां छः' (२-४१) इस सूत्र से ष को छ होने पर 'छठस्यठः' (३-१०) इस सूत्र से ठ को ठ होने पर 'शेषादेश योर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ठ को ट् होने पर 'सुभिस्सुप्सुवीर्घः' (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने पर 'छट्ठी' यह रूप बनता है।

१३५. छणं, खणं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'क्षणम्' है। 'क्षमावृक्षक्षणेषुवा' (३-३१) इस सूत्र से विकल्प से क्ष को छ होने पर 'सोर्विन्दुर्न पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'छणं' रूप बनता है। जिस पक्ष में छ नहीं होता वहां 'क्कस्कक्षां खः' (३-२९) इस सूत्र से क्ष को ख होने पर तथा पूर्ववत् बिन्दु होने पर 'खणं' यह रूप बनता है।

१३६. 'छत्तवण्णो'—

इसकी मूल प्रकृति 'सप्तपर्ण:' है। यह एक प्रकार की लता है। सर्व प्रथम 'षट् शावक सप्तपर्णानांछ:' (२-४१) इस सूत्र से स को छ होकर 'उपरिलोप: कगडतद पबसाम्' (३-१) इस सूत्र से प् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से त् को द्वित्व होने पर 'पोव:' (२-१५) इस सूत्र से पर्ण: के प को व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'छत्तवण्णो' यह रूप बनता है।

१३७. छमा, खमा—

इनकी मूल प्रकृति 'छमा' है। 'क्षमा वृक्ष क्षणेषुवा' (३-३१) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर छमा बनता है। पर जिस पक्ष में छ नहीं होता वहां 'क्ष-स्कक्षां ख:' (३-२९) इस सूत्र से ख होने पर 'खमा' यह रूप बनता है।

१३८. छम्मुहो—

इसकी मूल प्रकृति 'षण्मुख:' है जिसका अर्थ 'स्वामी कार्तिक' है। सर्व प्रथम 'षट्शावक सप्तपर्णानांछ:' (२-४१) इस सूत्र से प को छ होता है तब 'णोन:' (१०-५)इस सूत्र से ण को न् हुआ। यद्यपि 'णोन:' इस सूत्र से पैशाची प्राकृत में ण् को न् होता है तो भी व्यत्यय से महाराष्ट्री में भी पाया जाता है अत: न् होने पर 'नोम:' (३-४३) इस सूत्र से 'न्म' को 'म' होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) इस सूत्र से म् को द्वित्व होने पर 'खघथ-धभांह:' (२-२७) इस सूत्र से ख को ह होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'छम्मुहो' यह रूप सिद्ध होता है।

१३९. छारं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षारम्' है। 'अक्ष्यादिषुच्छ:' (२-३०) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'सोविन्दुर्नं पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४०. छावओ—

इसकी मूल प्रकृति 'शावक:' है जिसका अर्थ बच्चा है सर्व प्रथम 'षट्शा-वक सप्त पर्णानांछ:' (२-४१) इस सूत्र से श को छ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोप:' (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) इस सूत्र से 'ओ' होने पर 'छावओ' यह रूप बनता है।

१४१. छाहा, छाही—

इनकी मूल प्रकृति 'छाया' है। 'छायायांहः' (२-१८) इस सूत्र से य को ह होने पर 'छाहा' यह रूप बनता है और 'आदीतो बहुलम्' (५-२४) इस सूत्र से अन्तिम 'आ' को विकल्प से ई होने पर 'छाही' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१४२. छीरं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षीरम्' है जिसका अर्थ दूध है। 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से छ होने पर 'सोविन्दुर्नं पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'छीरं' यह रूप बनता है।

१४३. छुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षुतम्' है जिसका अर्थ भूख' है। सर्व प्रथम 'अक्ष्यादि षुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'कगचजतदपय वां प्रायोलोपः' (२-२) इससे त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नं पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'छुअं' यह रूप वनता है।

१४४. छुण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्षुण्णः' है जिसका अर्थ दुःखित है। 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से क्ष को छ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होने पर 'छुण्णो' रूप बनता है।

१४५. छुरं—

यह शब्द 'क्षुरम्' से बना है जिसका लौकिक अर्थ छुरा है। 'अक्ष्यादि-षुच्छः' (३-३०) इस से क्ष को छ होने पर 'सोविन्दुर्नं पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१४६. छेत्तं—

यह शब्द 'क्षेत्रम्' से बना है जिसका अर्थ खेत है। 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इससे क्ष को छ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर तथा 'शेषादेश योर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१४७. जइ जआ जइआ जाहे—

ये शब्द 'यदा' इससे बने हैं जिसका अर्थ जब होता है। सर्व प्रथम 'आदे यॉजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'इत्सदादिषु' (१-११) इस सूत्र से आ को विकल्प से इ हो जाता है। जिस पक्ष में इ हो जाता है वहां 'जइ'

बनता है और जहाँ इ नहीं होता वहां **'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) इस सूत्र से द् का लोप होने पर **'जआ'** यह रूप बनता है। ङे **'चतुर्थी'** के प्रयोग में **'आहे इआकाले'** (६-८) इस सूत्र से आहे और इआ आदेश हो-जाते हैं और जाहे तथा जइआ ये दो रूप बनते हैं।

१४८. जउणा—

यह शब्द **'यमुना'** इससे बना है। इसमें **'यमुनायां मस्य'** (२-३) इस सूत्र से म का लोप होने पर **'आदेर्योजः'** (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर **'णोणःसर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'जउणा'** रूप बनता है।

१४९. जक्खो—

इसकी मूल प्रकृति **'यक्षः'** है सर्वप्रथम **आदेर्योजः'** (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर **'ष्कस्कक्षां खः'** (३-२९) इस सूत्र से क्ष के स्थान पर ख होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ख को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र से प्रथम ख को क् होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर जक्खो यह रूप बनता है।

१५० जञ्जो जण्णो—

इनकी मूल प्रकृति **'यज्ञः'** है। सर्व प्रथम आदे र्योजः (२-३१) इससे य को ज होने पर **'ज्ञस्यञ्जः'** (१०-९) इस सूत्र से ज्ञ को **'ञ्ज'** होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इससे **'ओ'** होने पर **'जञ्जो'** यह रूप बनता है। पक्ष में **'न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषुणः'** (३-४४) इस सूत्र से ज्ञ को ण होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से द्वित्व होकर पूर्ववत् ओ होने पर जण्णो रूप बनता है।

१५१ जट्ठी—

यह शब्द **'यष्टिः'** शब्द से बना है जिसका अर्थ दण्ड (लकड़ी) होता है। सर्वप्रथम **'आदेर्योजः'** (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर **'ष्टस्यठः'** (३-१०) इस सूत्र से ष्ट को ठ होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ट को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ठ को ट् होने पर **'सुभिस्सुप्सु दीर्घः'** (५-१८) इस सूत्र से दीर्घ होने **'जट्ठी'** यह रूप सिद्ध होता है।

१५२ जढरं—

इसका मूल रूप **'जठरम'** है जिसका अर्थ **'पेट'** है। **'ठोढः'** (२-२४) इस सूत्र से ठ को ढ होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१५३ जण्णओ—

यह शब्द 'जनकः' से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न करने वाला है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर नाडादिषु (३-५२) इस सूत्र से ण् को द्वित्व होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क का लोप हाने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'जण्णओ' रूप बनता है।

१५४ जण्हू—

यह शब्द 'जन्हु' शब्द से बना है। यह एक ऋषि थे। सर्वप्रथम 'ह्रस्नष्णक्ष्णञ्नांण्हः' (३-३३) इस सूत्र से ण्ह होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर 'जण्हू' रूप बनता है।

१५५ जसो—

इसकी मूल प्रकृति 'यशस्' है। सर्वप्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होन पर 'शषोः सः' (२-४३) इससे श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'नसान्त प्रावृट् शरदः पुंसि' (४-१८) इनमे पुल्लिग होने पर यह रूप बनता है।

१५६ जहणं—

यह शब्द 'जघनम्' से बना है। इसका अर्थ नितम्ब है। ख घ थ ध भां हः' (२-२७) इस सूत्र से घ को ह होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इससे विन्दु (ं) होने पर यह शब्द बनता है।

१५७ जहिट्ठिलो—

यह शब्द 'युधिष्ठरः' से बना है। सर्व प्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) इस सूत्र से यु के उ को अ होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) इससे ध् को ह होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द पवसाम्' (३-१) इससे प् का लोप होगया। 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ठ् को ट होने पर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) इस सूत्र से र् को ल होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होकर यह रूप बनता है।

१५८ जामाउओ—

यह शब्द 'जामातृकः' से बना है इसका अर्थ दामाद होता है। सर्वप्रथम 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इससे त् तथा क् का लोप होने पर

'उदृत्वादिषु' (१-२९) इससे उ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१५९ जामाआ, जामाअरो—

इनकी मूल प्रकृति 'जामातृ' है जिसका अर्थ भी दमाद (लड़की का पति) होता है। 'आच सौ' (५-३५) इस सूत्र से ऋ को आ होने पर तथा 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इससे त का लोप होने पर 'जामाआ' यह बनता है और इसी सूत्र से ऋ को 'अर' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'जामाअरो' बनता है।

१६० जीअं जीविअं—

इनकी मूल प्रकृति 'जीवितम्' है। सर्वप्रथम 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से व तथा त का लोप होने पर 'सन्धावचा मज् लोप विशेषाबहुलम्' (४-१) से इ का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'जीअं' यह रूप बनता है—पर 'यावदादिषुवस्य' (४-५) इस सूत्र से व् का लोप विकल्प से होने पर जिस पक्ष में व का लोप नहीं होता उसमें 'जीविअं' यही रूप बनता हैं।

१६१ जीहा—

यह शब्द 'जिह्वा' से बना है। 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१-१७) इस सूत्र से छोटी इ को दीर्घ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इससे व का लोप होने पर 'जीहा' यह रूप बनता है।

१६२ जुगुच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'जुगुप्सा' है जिसका अर्थ निन्दा या घृणा है। 'इचत्सप्सां छः' (३-४०) इस सूत्र से प्स के स्थान पर छ हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ध को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व छ को च् होने पर 'जुगुच्छा' यह रूप सिद्ध होता है।

१६३ जुवा, जुवाणो—

इनकी मूल प्रकृति 'युवन्' है। सर्व प्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से न् का लोप होने पर 'राज्ञश्च' (५-३६) से दीर्घ होने पर 'जुवा' रूप बनता है। जुवाणो में न् का लोप न होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'जुवाणो' रूप सिद्ध होता है।

१६४ जोग्गो—

यह शब्द 'योग्यः' से बना है। सर्व प्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'अधोमनयां' (३-२) इससे दूसरे य का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इससे ग् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'जोग्गो' रूप बनता है।

१६५ जोव्वणं—

इसकी मूल प्रकृति 'यौवनम्' है। सर्व प्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) इस सूत्र से य को ज होने पर 'औत ओत्' (१-४१) इससे औ को ओ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर नोणः सर्वत्र (२-४२) से न् को ण हुआ और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इससे विन्दु होने पर 'जोव्वणं' यह रूप बनता है।

१६६ डण्डो—

इसकी मूल प्रकृति 'दण्डः' है। 'दोलादण्ड दशनेषु डः' (२-३५) इस सूत्र से द को ड होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर 'डण्डो' यह रूप बनता है।

१६७ डसणो—

यह शब्द 'दशनः' से बना है जिसका अर्थ रति है। सर्व प्रथम 'दोला-दण्डदशनेषु डः' (२-३५) इस सूत्र से द को ड होने पर 'शषोः सः' (२-४२) इस सूत्र से श को स होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इससे न् को ण हुआ तब 'अत ओत् सोः' (५-१) इस सूत्र से ओ होने पर 'डसणो' यह रूप सिद्ध होता है।

१६८ डोला—

यह शब्द 'दोला' से बना है जिसका अर्थ झूला है। 'दोला दण्ड दशनेषु डः' (२-३५) इससे द को ड होने पर यह शब्द बनता है।

१६९ णअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'नयनम्' है। सर्व प्रथम क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से य् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से दोनों न को ण् होकर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर 'णअणं' बनता है।

१७० णअरं—

यह शब्द 'नगरम्' से बना है। **'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः'** (२-२) इस सूत्र से ग् का लोप होने पर **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१७१. णईगामो, णइग्गामो--

यह शब्द **'नदीग्रामः'** से प्राकृतों में प्रयुक्त होते हैं। **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न् को ण् हुआ और **क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) इस सूत्र से द् का लोप हुआ। **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) इससे र् का लोप होने पर **'अत ओत्सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'णईगामो'** यह रूप बनता है। इस पक्ष में द्वित्व नहीं होता पर जिस पक्ष में **'समासेवा'** (३-५) से द्वित्व होता है वहाँ **'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्'** (४-१) से ई को इ होने पर और शेष कार्य पूर्ववत् होने पर **'णइग्गामो'** यह रूप बनता है।

१७२. णइसोत्तो, णईसोत्तो--

इनकी मूल प्रकृति **'नदीस्रोतः'** है। **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न् को ण होने पर **'क ग चज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से द का लोप होने पर **'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्'** (४-१) से विकल्प मे इ होने पर णई तथा णइ ये दो रूप नदी के बनते हैं। **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से स्रोतः के र् का लोप होने पर **'अन्त्य हलः'** (४-६) से अन्त्य का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से द्वित्व होने पर **'नसान्तप्रावृट्सरदःपुंसि'** (४-१२) से पुल्लिंग होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

१७३. णउलं--

यह शब्द **'नकुलम्'** से बनता है जिसका अर्थ न्योला है। **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण् होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) इस सूत्र से क का लोप होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१७४. णग्गो—

इसकी मूल प्रकृति **'नग्नः'** है। **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'अधोमनयां'** (३-२) इससे न का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व-मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से द्वित्व होने पर **'अतओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'णग्गो'** रूप बनता है।

१७५. णट्टओ—

इसकी मूल प्रकृति **'नर्तकः'** है जिसका अर्थ नाचने वाला होता है। सर्व प्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'र्तस्यटः'** (३-२२) इस सूत्र से र्त के स्थान पर ट होने से **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ट को द्वित्व होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः'** (२-२) से क का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इससे ओ होने पर **'णट्टओ'** यह रूप बनता है।

१७६. णवर—

यह शब्द निपात है और संस्कृत के **'केवलम्'** के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसकी रूप सिद्धि नहीं होती **'णवरःकेवले'** (९-७) इस सूत्र से केवल अर्थ में णवर का प्रयोग होता है।

१७७. णवरि—

यह भी निपात है और संस्कृत के आनन्तर्य अर्थ में यह प्रयुक्त होता है। **'आनन्तर्ये णवरि'** (९-८) इस सूत्र से आनन्तर्य अर्थ में णवरि का प्रयोग होता है।

१७८. णवि—

यह भी निपात है और संस्कृत के विपरीत अर्थ में इसका प्रयोग होता है **'णविर्वपरीत्ये'** इस सूत्र से विपरीत अर्थ में **'णवि'** शब्द निपतित है।

१७९. णहं—

इसकी मूल प्रकृति **'नभस्'** है जिसका अर्थ आकाश है। सर्वप्रथम **'नोणःसर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'खघथधभांहः'** (२-२७) इस सूत्र से भ को ह होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है **'नसान्त प्रावृट्सरदःपुंसि'** (४-१८) इस सूत्र से पुल्लिंग प्राप्त होने पर **'नशिरोनभसी'** (४-१९) इस सूत्र से निषेध होने पर नपुंसक लिंग ही होता है।

१८०. णक्खो णहो----

इनकी मूल प्रकृति **'नख:'** है। **'णक्खो'** रूप में सर्व प्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'सेवादिषुच'** (३-५८) इस सूत्र से विकल्प से द्वित्व होने पर जिस पक्ष में द्वित्व होता है वहां ख को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ख को क् होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इससे ओ होकर **'णक्खो'** यह रूप बनता है पर जिस पक्ष

में द्वित्व नहीं होता वहां पूर्ववत् ण् होने पर **'खघथधभां हः'** (२-२७) इससे ख को ह होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इससे ओ होने पर **'णहो'** रूप बनता है।

१८१. णिच्चं—

इसकी मूल प्रकृति **'नित्यम्'** है। सर्वप्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इससे न को ण होने पर **'त्यथ्यद्यां चछ जाः'** (३-२७) इस सूत्र से त्य को च होने पर **शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ** (३-५०) इस सूत्र से द्वित्व होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) इस सूत्र से बिन्दु (ं) होने पर **'णिच्चं'** यह रूप बनता है।

१८१. णिज्झरो—

इसकी मूल प्रकृति **'निर्झरः'** है। सर्वप्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से झ को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र से पूर्व झ को ज होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१८३. णिट्ठुरो—

इसकी मूल प्रकृति **'निष्ठुरः'** है जिसका अर्थ कठोर या निर्दय है। सर्वप्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर **'उपरिलोपः क ग ङ त द प ष साम्'** (३-१) इस सूत्र से ष् का लोप होने पर **'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर **'वर्गेषुयुजः पूर्वः'** (३-५१) इस सूत्र से प्रथम ठ् को ट् होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) इससे ओ होने पर **'णिट्ठुरो'** रूप बनता है।

१८४. णिडालं—

इसकी मूल प्रकृति **'ललाटम्'** है जिसका अर्थ माथा है। **'दाढादयोबहुलम्'** (४-३३) इस सूत्र से ललाटम् के स्थान पर यह आदेश हो जाता है।

१८५. णिद्दा—

इसकी मूल प्रकृति **'निद्रा'** है। सर्वप्रथम **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से द् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

१८६. णिद्दालू—

यह शब्द 'निद्रावान्' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पूर्व प्रकार से णिद्दा सिद्ध हो जाने पर 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्तामतुपः' (४-२५) इस सूत्र से 'आलु' होने पर 'सुभिस्तुप्तुदोर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर यह शब्द सिद्ध होता है।

१८७. णिप्फाओ—

इसकी मूल प्रकृति 'निष्पापः' है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न को ण होने पर 'कगचजत दपयवां प्रायो लोपः' (२-२) इससे अन्तिम प् का लोप होने पर 'स्पस्य फः' (३-३५) इस सूत्र से 'ष्प' के स्थान पर 'फ' होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व फ् को प् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'णिप्फाओ' यह रूप बनता है।

१८८. णिवत्तओ—

इसकी मूल प्रकृति 'निवर्तकः' है। सर्वप्रथम 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयो-द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से त् को द्वित्व होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) इससे क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५ १) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१८९. णिविडो—

इसकी मूल प्रकृति 'निविडः' है। 'नोणःसर्वत्र (२-४२ से न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें ड को ल नहीं होता है क्योंकि 'डस्यच' (२-२३) इस सूत्र से ल प्रायः होता है सब जगह नहीं होता।

१९०. णिव्वुदं—

इसकी मूल प्रकृति 'निर्वृत' है। सर्वप्रथम 'नोणःसर्वत्र' (२-२, इस सूत्र से न को ण होता है। 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से ऋ को उ होने पर 'शेषादेशयोद्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'ऋत्वादिषुतोदः' (२-७) इस सूत्र से त् को द् होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके:' (५-६०) से बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

१६१. णिव्वुदी—

इसकी मूल प्रकृति 'निर्वृतिः' है। इसमें सब कार्य णिव्वुदं के समान होने पर छोटी इ को 'सुभिसुप्सुदीर्घः' (५-१८) इससे दीर्घ होने पर 'णिव्वुदी' रूप बनता है।

१६२. णिसढो—

इसकी मूल प्रकृति 'निषधः' है। सर्वप्रथम 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'शषोःसः' (२-४३) इस सूत्र से ष् को स होने पर 'प्रथमशिथिल निषधेषुढः' (२-२८) इस सूत्र से ध को ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे ओ होने पर यह रूप बनता है।

१६३. णिसा—

यह शब्द 'निशा' से बनता है जिसका अर्थ रात है। सर्वप्रथम 'णोणःसर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'शषोःसः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर यह रूप बनता है।

१६४. णिस्सासो, णीसासो—

इसकी मूल प्रकृति 'निःश्वासः' है। सर्वप्रथम 'णोणःसर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से व का लोप होने पर 'शषोःसः' (२-४३) से श् को स होने पर 'सेवादिषुच' (३-५८) से स को विकल्प से द्वित्व होता है जिस पक्ष में द्वित्व होता है वहाँ 'णिस्सासो' यह रूप बनता है। इसमें 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ हो जाता है 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१-१७) से च का पाठ होने से (अर्थात् सिंह और जिह्वा के अतिरिक्त शब्दों को भी) ई हो जाता है इस सूत्र से ई हो जाने पर दोनों में ई हो जाता है पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से जहाँ द्वित्व होता है वहाँ णी को णि होता है और जहाँ द्वित्व नहीं होता वहाँ 'णीसासो' यह रूप बनता है।

१६५. णिहसो—

इसकी मूल प्रकृति 'निकषः' है जिसका अर्थ कसौटी है। सर्वप्रथम 'णोणःसर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'स्फटिकनिकषचिकुरेषु कस्यहः' (२-४) इस सूत्र से क को ह होने पर 'शषोःसः' (२-४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर 'णिहसो' यह रूप बनता है।

१६६. णूणं, णूण—

ये दोनों प्रयोग 'नूनम्' से बने हैं जिसका अर्थ 'निश्चय' है यह अव्यय है। इनमें 'णोणःसर्वत्र' (२-४२) से दोनों न को ण होने पर 'मांसादिषुवा' (४-१६) इस सूत्र से विकल्प से बिन्दु (ं) होने पर ये रूप बनते हैं।

१९७. णेउरं—

इसकी मूल प्रकृति 'नूपुरम्' है। यह एक आभूषण है जो पैरों में पहना जाता है। सर्वप्रथम **'एन्नूपुरे'** (१-२६) से **'नू'** को **'ने'** होने पर **'णोण:सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से प् का लोप होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुसंके'** (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

१९८. णेडं, णेड्डं—

इनकी मूल प्रकृति 'नीडम्' है जिसका अर्थ घोंसला है। **'एन्नीडापीडकी दृगीदृशेषु'** (१-१९) इस सूत्र से **'नी'** की **'ई'** को **'ए'** होने पर **'णोण:सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुसंके'** (५-३०) से बिन्दु होने पर **'णेडं'** रूप बनता है। पक्ष में **'सेवादिषु च'** (३-५८) से द्वित्व होने पर **'णेड्डं'** रूप बनता है।

१९९. णेद्दा, णिद्दा—

इनकी मूल प्रकृति, 'निद्रा' है। इसका अर्थ नींद है। सर्वप्रथम **णोण:सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'इत एत् पिण्डसमेषु'** (१-१२) इस सूत्र से विकल्प से इ को ए होता है जिस पक्ष में ए होता है वहां **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से र् का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर **'णेद्दा'** रूप बनता है पर जिस पक्ष में ए नहीं होता वहां 'णिद्दा' यही रूप रहता है।

२००. णेहो—

इसकी मूल प्रकृति **'स्नेहः'** है जिसका अर्थ प्रेम है। **'उपरिलोपः कगडत दपषसाम्'** (३-१) से स् का लोप होने पर **'णोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न् को ण होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२०१. णोमल्लिआ—

इसकी मूल प्रकृति **'नवमल्लिका'** है जिसका अर्थ एक विशेष प्रकार की सुगन्धित लता है। सर्वप्रथम **'लवण नवमल्लिकयोर्वेन'** (१-७) इस सूत्र से नव के न के अ तथा व को मिलाकर ओ होने पर नो बनता है। तब **'णोण:सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से क का लोप होने पर यह रूप बनता है।

२०२. ण्हाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्नानम्' है। सर्वप्रथम **'ह्मस्नष्णक्ष्णझ्नांण्हः'** (३-३३) इस सूत्र से स्न के स्थान पर **'ण्ह'** होकर **'णोण:सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण

होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर 'ण्हाणं' रूप बनता है।

२०३. तइ तआ—

इनकी मूल प्रकृति 'तदा' है जिसका अर्थ तब होता है यह सर्वनाम है। 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'इत्सदादिषु' (१-११) इस सूत्र से विकल्प से आ को इ होने पर 'तइ' तथा 'तआ' ये दो रूप बनते हैं।

२०४. तणं—

इसका मूल रूप 'तृणम्' है जिसका अर्थ तिनका या घास है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०५. तणुई—

इसकी मूल प्रकृति 'तन्वी' है जिसका अर्थ दुबली या पतली होता है। यह शब्द प्रायः स्त्रियों के लिये प्रयुक्त होता है। सर्वप्रथम 'उःपङ्क्तन्वी समेषु' (३-६५) से संयुक्त 'वर्णों' का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) हो जाता है और पूर्व को उ होता है तब 'तनुवी' यह रूप बनता है। 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर और 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से व का लोप होने पर 'तणुई' बनता है।

२०६. तंबं—

इसकी मूल प्रकृति 'ताम्रं' है। 'आम्र ताम्रयोर्वः' (३-५३) इस सूत्र से दो वकार होते हैं और ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) से आ को छोटा अ हो जाता है 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०७. तंबो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तम्बः' है जिसका अर्थ समूह या झुण्ड है। 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) इस सूत्र से स् का लोप होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१७) से म् को विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' से ओ होने पर 'तंबो' रूप बनता है।

२०८. तलाअं—

इसकी मूल प्रकृति 'तडागम्' है जिसका अर्थ तालाब है। 'डस्यच' (२-२३) इस सूत्र से ड को ल होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र

से ग् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०६. तलवेण्टअं, तालवेण्टअं—

इनकी मूल प्रकृति 'तालवृन्तकम्' है जिसका अर्थ पंखा होता है। 'अदातोयथादिषुवा' (१-१०) इस सूत्र से 'आ' को विकल्प से अ होता हैं। वृ के ऋ को 'इदृष्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से इ होकर 'इतएत् पिण्डसमेषु' (१-१२) से ए हो जाता है। 'तालवृन्तेण्टः' (३-४५) इस सूत्र से न्त को ण्ट होकर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर 'तलवेण्टअं' बनता है। जिस पक्ष में अ नहीं होता वहां 'तालवेण्टअं' बनता है।

२१०. तिण्हं—

यह शब्द 'तीक्ष्णम्' से बना है जिसका अर्थ तेज है। सर्वप्रथम 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' (३-३३) से क्ष्ण को ण्ह होने पर 'ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) इससे ती को ति होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२११. तुण्हिक्को, तुण्हिओ—

ये दोनों शब्द 'तूष्णीकः' से बने हैं जिसका अर्थ शान्त या चुपचाप है। 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' (३-३३) इस सूत्र से ष्ण को 'ण्ह' होने पर ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) के अनुसार ई को इ होने पर 'सन्धावचा मज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) इस सूत्र से ऊ को उ होने पर 'सेवादिषुच' (३-५८) से क् को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'तुण्हिक्को' रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क का लोप होने पर 'तुण्हिओ' यह रूप बनता है।

२१२. तुरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'त्वरितम्' है जिसका अर्थ जल्दी या शीघ्रता है। सर्वप्रथम 'क्तेतुरः' (८-५) से त्व को तुर आदेश हो जाता है और क्त (७-३२) से इ होकर तुरि बनता है तब 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२१३. तेल्लोक्कं, तेलोक्कं, तेलोअं—

ये तीनों प्रयोग प्राकृत भाषाओं में त्रैलोक्यम् से होते हैं। सर्व प्रथम 'ऐतएत्' (१-३५) इस सूत्र से ऐ के स्थान पर ए हो जाता है और फिर

'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से र का लोप होने पर ते बनता है। 'सेवादिषुच' (३-५८) इस सूत्र से ल को द्वित्व होता है और 'शेषादेशयो र्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से क को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'तेल्लोक्कं' यह रूप बनता है। 'सेवादिषुच' (३-५८) से द्वित्व विकल्प से होता है। अतः द्वित्व न होने पर 'तेलोक्कं' यह रूप बनता है। द्वित्व न होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क का लोप होने पर 'तेलोअं यह रूप बनता है।

२१४. तोण्डं—

इसकी मूल प्रकृति 'तुण्डम्' है जिसका अर्थ नाक है। 'उत ओत् तुण्ड-रूपेषु' (१-२०) इस सूत्र से उ को ओ होने पर "सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२१५. थवओ—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तवकः' है जिसका अर्थ गुच्छा है। सर्वप्रथम 'स्तस्यथः' (३-१२) इस सूत्र से स्त के स्थान पर थ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इस सूत्र में (कग चजतद० में प्रायो ग्रहण करने से व् का लोप नहीं होता।

२१६. खाणू—

इसकी मूल प्रकृति 'स्थाणु' है जिसका अर्थ खम्भा है। 'स्थाणावहरे' (३-१५) इस सूत्र से स्था का खा होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'थाणू' यह रूप बनता है।

२१७. थुई—

इसकी मूल प्रकृति 'स्तुति' है। 'स्तस्य थः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोप.' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु-दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर थुई यह रूप बनता है।

२१८. दइच्चो—

इसकी मूल प्रकृति 'दैत्यः' है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१-३६) इस सूत्र से ऐ को 'अइ' होने पर 'त्यथ्यद्यां चछजाः' (३-२७) से त्य को च होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से च को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'दइच्चो' यह रूप बनता है।

२१९. दइवं देव्वं----

इनकी मूल प्रकृति दैवम् है। सर्वप्रथम 'दैवेवा' (१-३७) इस सूत्र से ऐ को 'अइ' आदेश विकल्प से होता है - अइ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'दइवं' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में अइ नहीं होता वहां नीडादिषुच (३-५२) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर 'ऐतएत्' (१-३५) से ऐ को ए होने पर सोर्विंदुर्नपुंसके (५-३०) से विन्दु होने पर 'देव्वं' यह रूप बनता है।

२२०. दंसणं----

इसकी मूल प्रकृति 'दर्शनम्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र का लोप होने पर 'शषोसः' (२-४३) से श को स हुआ तथा 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'वक्रादिषुच' (४१५) से द के ऊपर विन्दु होने से 'दंसणं' यह रूप सिद्ध होता है।

२२१. दच्छो—

इसकी मूल प्रकृति 'दक्षः' है जिसका अर्थ चतुर है। सर्व प्रथम 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) इस सूत्र से क्ष को 'छ' होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३-५०) इस सूत्र से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व छ को च होने पर 'नसान्त प्रावृट् शरदः पुंसि' (४-१८) से पुल्लिग होने पर तथा 'अन्त्यहलः' (४-६) से दक्षन् के न् का लोप होने पर 'अत ओत् मोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२२२. दड्ढं—

यह प्रयोग 'दग्धम्' जले हुए के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'क्रेन विण्णादयः' (८-६२) से क्त प्रत्यय के योग में दह धातु से 'दड्ढं' यह प्रयोग निपात शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

२२३. दट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति दृष्टम् है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'ष्टस्य ठः' (३-१०) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से प्रथम ठ को ट् होने पर 'मो विन्दु.' (४-१२) से म् को विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२२४. दवग्गी दावग्गी—

इसकी मूल प्रकृति 'दावाग्नि' है जिसका अर्थ जंगल की आग है। सर्व प्रथम 'अदातोयथादिषवा' (१-१०) से आ को विकल्प से अ होता है।

अधोमनयाम्' (३-२) से न् का लोप होने पर वा के आ को **'ह्रस्वः संयोगे'** (हेमचन्द्र) से ह्रस्व होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से ग को द्वित्व होने पर **'सभिस्सुप्सुदीर्घः** (५-१२) से दीर्घ होने पर वे रूप बनते हैं।

२८५. दहमुहो, दसमुहो—

इनकी मूल प्रकृति **'दशमुखः'** है। सर्व प्रथम **'संज्ञायांवा'** (२-४५) इस सूत्र से विकल्प से श को ह होने पर **'ख घ थ ध भां हः'** (२-२७) इस सूत्र से ख को ह होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'दहमुहो'** यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में श को ह नहीं होता वहां **'शषोः सः'** (२-४३) से श को स होने पर पूर्ववत् **'दसमुहो'** यह रूप बनता है।

२२६. दहरहो, दसरहो—

इनकी मूल प्रकृति **'दशरथः'** है। सर्व प्रथम **'सज्ञायां वा'** (२-४५) इस सूत्र से विकल्प से श को ह होने पर **'ख घ थ ध भां हः'** (२-२७) से थ को ह होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'दहरहो'** यह रूप बनता है और जिस पक्ष में श को ह नहीं होता वहां **'शषोः सः'** (२-४३) से श को स होने पर पूर्ववत् दहरहो यह रूप बनता है।

२२७. दहबलो दसबलो—

इनकी मूल प्रकृति **'दशबलः'** है। ये दोनों रूप भी पूर्ववत् होते हैं अर्थात् संज्ञायां वा (२-४५) इस सूत्र से विकल्प से श को ह होने पर **'ख घ थ ध भां हः'** (२-२७) से थ को ह होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'दहबलो'** यह रूप बनता है और जिस पक्ष में श को ह नहीं होता वहां **'शषोः सः'** (२-४३) से श को स होने पर पूर्ववत् **'दहबलो दसबलो'** यह रूप बनता है।

२२८. दहिं—

यह शब्द **'दधि'** से बना है। **'ख घ थ ध भां हः'** (२-२) इस सूत्र से ध को ह होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर **'दहिं'** यह रूप बनता है।

२२९. दस्के—

इसकी प्रकृति भी **'दक्षः'** है। दस्के रूप मागधी भाषा में बनता है। **'क्षस्य स्कः'** (११-८) से क्ष को स्क होने पर **'अतएत् सौ पुंसि मागध्याम्'** (हेमचन्द्र) इस सूत्र से **'ए'** होने पर **'दस्के'** रूप बनता है।

२३०. दाढा—

इसकी मूल प्रकृति 'दंष्ट्रा' है जिसका अर्थ दाढ़ होता है। 'दाढादयो बहुलम्' (४-३३) इस सूत्र से दाढा शब्द 'दंष्ट्रा' के लिये प्रयुक्त होता है। यह शब्द निपात है।

२३१. दालिमं—

यह शब्द 'दाडिमं' से बना है जिसका अर्थ अनार है। 'डस्य च' (२-२३) इस सूत्र से ड को ल होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) इससे विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२३२. दिअरो, देअरो—

इनकी मूल प्रकृति 'देवरः' है। 'ऐ त इ द् वेदनादेवरयोः' (१-३४) इस सूत्र से ए को इ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'दिअरो' रूप वनता है। कहीं-कहीं 'दे अरो' यह रूप भी बनता है।

२३३. दिअहो, दिअसो—

इसकी मूल प्रकृति 'दिवसः' है। 'दिवसेसस्य' इस सूत्र से स को विकल्प से ह होने पर तथा 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) इससे 'ओ' होकर 'दिअहो' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में ह नहीं बनता वहां 'दिअसो' यह रूप होता है।

२३४. दिग्घं, दीहं—

इनकी मूल प्रकृति 'दीर्घम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'सेवादिषुच' (३-५८) से घ को द्वित्व विकल्प से होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व घ को ग होने पर ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) से ई को इ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है। जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां संयोग न होने पर ह्रस्व नही होता पर र् का लोप पर्ववत् होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) से घ को ह होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'दीहं' रूप बनता है।

२३५. दिट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'दृष्टिः' है। सर्व प्रथम 'इ दृष्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से ऋ को इ होने पर 'ष्टस्य ठः' (३-१०) इस सूत्र से ष्ठ को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (५-५०) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः

पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ठ को ट् होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'विट्ठी' यह सिद्ध होता है।

२३६. विसा—

यह शब्द 'दिशा' से बना है। 'दिग्प्रावृषो सः' (४-११) इस सूत्र से स होने पर यह रूप बनता है।

२३७. दुअल्लं, दुऊलं—

इनकी मूल प्रकृति 'दुकूलम्' है जिसका अर्थ कपड़ा है। सर्व प्रथम 'अद् दुकूले वा लस्य द्वित्वम्' (१-२५) इस सूत्र से ऊ को अ होने पर तथा ल को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'दुअल्लं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में 'अ' नहीं होता और ल को द्वित्व भी नहीं होता वहाँ 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर तथा पूर्ववत् विन्दु होने पर 'दुऊलं' रूप बनता है।

२३८. दुक्खिओ, दुहिओ—

इनकी मूल प्रकृति 'दुःखितः' है। सर्व प्रथम 'सेवादिषुच' (३-५८) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से प्रथम ख को क होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। जहाँ द्वित्व नहीं होता वहाँ 'ख घ थ ध भां हः' (२-७) से ख को ह होने पर तथा 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'दुहिओ' बनता है।

२३९. दुय्यणे—

इसकी मूल प्रकृति 'दुर्जन' है। मागधी प्राकृत में 'यॅर्ज यो य्यः' (११-७) इस सूत्र से र्ज के स्थान पर 'य्य' हो जाता है और नोणः सर्वत्र (२-४२) से न् को ण होने पर 'अत इदेतौलुक्च' (११-१०) से ए होकर अथवा 'अत एत्-सौ पुंसि मागध्याम्' (हेम चन्द्र) इस सूत्र से ए होने पर 'दुय्यजे' यह रूप बनता है अन्य प्राकृतों में 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'दुय्यणो' यह रूप बनता है।

२४०. दुव्वारिओ—

इसकी मूल प्रकृति 'दौवारिकः' है जिसका अर्थ द्वारपाल है। सर्व प्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१-४४) इस सूत्र से औ को 'उ' होने पर 'नोडादिषुच' (३-५२) इस सूत्र से व को द्वित्व होने पर 'क ग च ज तद पयवां

प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

२४१. दिअरो, देअरो—

इनकी मूल प्रवृति **'देवरः'** है **'ऐतइद् वेदनादेवरयोः** (१-३४) इस सूत्र से ए को इ होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से व् का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से 'ओ' होने पर **दिअरो'** रूप बनता है। ए को इ न होने पर **'देअरो'** यह भी प्रयुक्त होता है।

२४२. देवत्थुई देवथुई—

ये दोनों शब्द **'देव स्तुतिः'** से बने ह। सर्वप्रथम **'स्तस्यथः'** (३-१२) इस सूत्र से स्त को थ होने पर **'समासेवा'** (१-५७) से विकल्प से थ को द्वित्व होने पर पूर्व थ् को **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) से त् होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से त् का लोप होने पर **'सुभिस्सुप्सु दीर्घः'** (५-१८) से दीर्घ होने पर **'देवत्थुई'** यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नही होता वहां **'देवथुई'** यही रूप होता है।

२४३. दइवं, देव्वं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'दैवम्' है। सर्वप्रथम 'दइवं' में **'दैवेवा'** (१-२७) इस सूत्र से ऐ को **'अइ'** विकल्प से होता है जिस पक्ष में **'अइ'** हो जाता है वहां **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर 'दइवं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में **अइ'** नहीं होता वहां **'ऐत-एत्'** (१-३५) से **'ऐ'** को **'ए'** होने पर **'सेवादिषुच'** इस सूत्र से व् को विकल्प से द्वित्व होता है और **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर **'देव्वं'** रूप बनता है।

२४४दो. हलो—

इसकी मूल प्रकृति **'दोहदं'** है जिसका अर्थ **'गर्भ'** की पीड़ा है। सर्वप्रथम **'प्रदीप्तकदम्ब दोहदेषुलः'** (२-१२) इस सूत्र से अन्त के द को ल होने पर **अत् ओत सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'दोहलो'** यह रूप बनता है।

२४५. दोहो द्रोहो—

इनकी मूल प्रकृति **'द्रोहः'** है। सर्वप्रथम **'द्रेरोवा'** (३-४) इस सूत्र से विकल्प से द् का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर दोनों रूप बनते हैं।

२४६. धणं—

यह शब्द **'धन'** से बना है। **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर **'मो बिन्दुः'** (४-१२) से विन्दु होने पर **'धणं'** बनता है।

२४७. धणालो—

संस्कृत के 'धनवत्' या 'धनवान्' के अर्थ में प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्ता मतुपः' (४-२५) इस सूत्र से मतुप् अर्थ में वत् या वान् को 'आल' हो जाता है और 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) इस सूत्र से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'धणालो' यह शब्द बनता है। जिस पक्ष में 'आल' नहीं होता वहां 'धणवन्तों' यही रूप होता है।

२४८. धम्मेलं, धम्मिल्लं—

इनकी मूल प्रकृति 'धम्मिल्लं' है जिसका अर्थ 'बंधे हुए या सुन्दर बाल' है। 'इतएत् पिण्ड समेषु' (१-१२) इस सूत्र से विकल्प से इ को ए होने पर 'सोविन्दुर्नं पुंसके' (५-३०) इस सूत्र से विन्दु होने पर ये रूप बनते हैं।

२४९. धीआ धूदा, धिया धूआ—

इनकी मूल प्रकृति 'दुहिता' है जिसका अर्थ लड़की है। 'वाडादयो बहुलम्' इस सूत्र से दुहिता के अर्थ में 'धीआ' का प्रयोग होता है। कहीं कहीं धूदा धिया, धूआ आदि रूप भी प्रयुक्त होते हैं।

२५०. धीरं—

इसकी मूल प्रकृति 'धैर्यम्' है। सर्वप्रथम 'ईद्धैर्ये' (१-३९) इस सूत्र से ऐ को ई होने पर धी बनता है तब 'तूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषुरः' (३-१८) इस सूत्र से र्य को र होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२५१. धुत्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'धूर्त्त' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से त को द्वित्व होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से ऊ को उ होने पर 'अत ओत् सो' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें 'र्तस्यटः' (३-२२) इस सूत्र से र्त को ट होना चाहिये था पर 'नधूर्तादिषु' (३-२४) से ट् का निषेध हो जाता है।

२५२. धुरा—

इसकी मूल प्रकृति 'धुर्' है जिसका अर्थ केन्द्र या 'धुरी' होता है। 'रोरा' (४-८) इस सूत्र से अन्तिम 'र्' को 'रा' होने पर यह रूप बनता है।

२५३. पअडं, पाअडं—

इनकी मूल प्रकृति 'प्रकटम्' है जिसका अर्थ प्रकट होना है। 'आ समृद्ध्यादिषुवा' (१-२) इस सूत्र से विकल्प से आ होता है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप हो जाता है। 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'टोडः' (२-२०) से ट को ड होने पर 'सोविन्दु र्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये दो रूप बनते हैं।

२५४. पउअं पाउअं—

इनकी मूल प्रकृति 'प्राकृतम्' है। 'अदातोयथादिषुवा' (१-१०) इस सूत्र से आ को विकल्प से अ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) इस सूत्र से 'प्रा' के र् का लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से ऋ को उ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् तथा त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

२५५. पउत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रवृत्तिः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर तथा व् का भी इसी सूत्र से लोप होने पर 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से ऋ को उ होने पर 'उपरिलोपः कगडतदपष साम्' (३-१) से 'त्ति' के एक त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

२५६. पउमं—

इसकी मूल प्रकृति 'पद्मम्' है जिसका अर्थ कमल है। 'उः पद्मतन्वीसमेषु' (३-६५) इस सूत्र से संयुक्त वर्ण 'द्म' का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) हो जाने पर तथा उ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'पउमं' रूप बनता है।

२५७. पउरो—

इसकी मूल प्रकृति 'पौरः' है जिसका अर्थ नगर निवासी है। 'पौरादिष्वउ' इस सूत्र से 'औ' को 'अउ' होता है और 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होकर यह रूप बनता है।

२५८. पउरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पौरुषः' है। 'पौरादिष्वउ' (१-४२) इस सूत्र से औ को 'अउ' होने पर 'इत्पुरुषेरोः' (१-२३) इस सूत्र से रू के उ को इ होने पर

'शषोः सः' (२-४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'पउरिसो' यह रूप बनता है। इत्पुरुषेरोः (१-२३) इस सूत्र में पुरुष से पौरुष भी ग्रहण होता है।

२५९. पुरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पुरुषः' है। इसमें 'इत्पुरुषेरोः' (१-२३) से रु के उ को इ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२६०. पवट्ठो, पओट्ठो—

इनकी मूल प्रकृति 'प्रकोष्ठः' है जिसका अर्थ घर का एक कोठा होता है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर 'ओतोद्वा प्रकोष्ठे कस्यवा' (१-४०) इस सूत्र से को के ओ को अ होता है और क को व होता है पर ये दोनों कार्य विकल्प से होते हैं। अतः एक पक्ष में 'प्रको' के स्थान पर प व होने पर 'ष्टस्यठः' (३-१०) इस से 'ष्ट' के स्थान पर ठ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) इस सूत्र से पूर्व ठ को ट् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'पवट्ठो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में क को व नहीं होता और अ नहीं होता वहां 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर तथा शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'पओट्ठो' यह रूप बनता है।

२६१. पच्चच्छं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रत्यक्षम्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' इस सूत्र से प्र के र् का लोप होने पर 'त्यथ्य द्यां चछजाः' (३-२७) इस सूत्र से त्य को च होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) इस सूत्र से च को द्वित्व होने पर 'अक्ष्यादिषुछः' (३-३०) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'सोर्विन्दु र्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६२. पच्छं—

इसकी मूल प्रकृति 'पक्ष्यम्' है। 'त्यथ्यद्यांचछजाः' (३-२७) इस सूत्र से त्य को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६३. पच्छिमं—

यह शब्द **'पश्चिमम्'** से बना है। सर्वप्रथम **'इचत्सप्सां छः'** (३-४०) से श्च को छ होने पर **'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर **'मोविन्दुः'** (४-१२) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२६४. पज्जत्तो—

इसकी मूल प्रकृति **'पर्याप्तः'** है। सर्वप्रथम **'र्थशय्या भिमन्युषुजः'** (३-१७) इस सूत्र से र्य को ज होने पर **'ह्रस्वः संयोगे'** (हेमचन्द्र) इससे आ को अ होने पर तथा **'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः'** (२-२) से प् का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से ज् तथा त् दोनों को द्वित्व होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर **'पज्जत्तो'** यह रूप बनता है।

२६५. पज्जुण्णो—

इसकी मूल प्रकृति **'प्रद्युम्नः'** है। सर्वप्रथम **'म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशे-षुण्णः'** (३-४४) इस सूत्र से म्न के स्थान पर ण् होने पर **त्य थ्य द्यां च छ जाः'** (३-२७) से द्य को ज होने पर **'शेषा देश योर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) इस सूत्र से ज् तथा ण् दोनों को द्वित्व होने पर **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६६. पट्टणं—

इसकी मूल प्रकृति **'पत्तनम्'** है। सर्वप्रथम **'पत्तने'** (३-२३) इस सूत्र से त्त के स्थान पर ट हो जाता है तथा **'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से ट् को द्वित्व होने पर **'नोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न् को ण् होने पर **'सो विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२६७. पडाआ—

इसकी मूल प्रकृति **'पताका'** है जिसका अर्थ ध्वजा या झन्डा है। **'प्रतिसर वेतस पताकास डः'** (२-८) इस सूत्र से त को ड होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः'** (२-२) से क् का लोप होने पर **'पडाआ'** यह रूप बनता है।

२६८. पडिसुदं—

इसकी मूल प्रकृति **प्रतिश्रुतम्'** है जिसका अर्थ प्रतिज्ञा करना है। **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर **'प्रतिसर वेतस पताकासु डः'**

(२-८) से त् को ड होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से श्रु के र का लोप होने पर श्रुतम् के त को 'अनादा वयुजो स्तथयोर्वधौ' (१२-३) से द होने पर 'वक्रादिषु च' (४.१५) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२६९. पडिवआ, पाडिवआ—

इनकी मूल प्रकृति 'प्रतिपदा' है जिसका अर्थ पहली तिथि या परेवा है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-२) से द् का लोप होने पर 'आ समृध्यादिषु वा' (१-२) से विकल्प से प को आ होने पर 'प्रत्यादौ डः' (हेमचन्द्र के इस सूत्र द्वारा) अथवा 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-२) इस सूत्र से त को ड होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'कग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर ये दोनों रूप बनते है।

२७०. पडिवद्दी—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिपत्ति' है जिसका अर्थ ज्ञान अथवा विश्वास है। सर्वप्रथम प्र के र का 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से लोप होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-८) से प्रति के त को ड होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'उपरि लोपः कग ड त दप षसाम्' (३-१) से 'त्ति' के एक त का लोप होने पर 'ऋत्वादिषु तो दः' (२-७) से त को द् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से द को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

२७१. पडिसरो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिसरः' है जिसका अर्थ सेना का पिछला भाग अथवा हाथ की माला होता है। 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-८) से त को ड होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७२. पडिसिद्धी, पाडिसिद्धी—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रतिषिद्धि' (निषेध) अथवा प्रतिस्पर्धिन् (प्रतिद्वन्दी) है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से प्र के र का लोप होने पर 'प्रतिसर वेतस पताकासु डः' (२-२) से त को ड होने पर तथा 'आसमृद्धयादिषुवा' (१-२) से अ को विकल्प से आ होने पर प्रतिसिद्ध के ष को 'शषोः सः' (२-४३) से स होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष साम्' (३-१) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ध को द् होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः'

(५-१२) से दीर्घ होने पर ये रूप बनते हैं। 'प्रतिस्पर्द्धि' में 'सिच' (३-३७) से स्प को सि होने पर पूर्ववत् रूप बनते हैं इस पक्ष में 'शषोः सः' (२-७३) यह सूत्र नहीं लगता।

२७३. पण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रश्नः' है। 'सर्वत्र लवरा२' (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर 'ह्न स्नश्च क्ष्णश्नांहः' (३-३३) इस सूत्र से श्न को 'ण्ह' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७४. पण्हुदं—

इसकी प्रकृति 'प्रस्तुतम्' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'ह्न स्न श्च ष्ण श्नां ण्हः' (३-३३) से स्त को भी ण्ह होने से 'अनादा वयु जोस्त थयोर्दधौ' (१२-३) से त को द होने पर 'सो बिन्दु र्नपुसंके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२७५. पत्थरो, पत्थारो—

इनकी मूल प्रकृति 'प्रस्तरः' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवरां' (३-३) से र् का लोप होने पर 'अदातो यथा दिषुवा' (१-१०) से विकल्प से आ होने पर 'स्तस्य थः' (३-११) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयो र्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ को त होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७६. पम्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'पक्ष्मन्' है जिसका अर्थ नेत्र के पलकों के बाल है। 'ष्म पक्ष्म विस्मयेषुम्हः' (३-३२) से ,क्ष्म' को 'म्ह' होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से न् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७७. परहुआ—

इसकी मूल प्रकृति 'परभृतः' है जिसका अर्थ कोयल है। 'उदृत्वादिषु' (१-१९) इस सूत्र से भृ के ऋ को उ होने पर 'ख घ थ धभां हः' (२ २७) से भ को ह होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७८. पलंणो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रलम्बनः' है जिसका अर्थ उलांघना है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से प्र के द् का लोप होने पर 'यथि तद्वर्गान्तः'

(४-१७) से लम के म् को विन्दु होने पर **नोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न को ण होने पर **'अत ओत् सोः'** (४-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२७९. पलित्तं—

इसकी मूल प्रकृति **'प्रदीप्तम्'** है। सर्वप्रथम **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) से द् का लोप होने पर **'प्रदीप्त कदम्ब दोहदेषु दो लः'** (२-१२) इस सूत्र से द को ल होने पर **'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्'** (४-१) इस सूत्र से ई को इ होने पर **'उपरि लोपः क ग ड त दपषसाम्'** (३-१) से प का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से त को द्वित्व होने पर **'सोविन्दुर्न पुसंके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८०. पल्लत्थं—

इसकी मूल प्रकृत **'पर्यस्तम्'** है जिसका अर्थ चारों ओर है। सर्वप्रथम **'पयस्त पर्याण सौकुमार्येषुलः'** (३-२१) से र्य को ल होने पर **'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ल को द्वित्व होने पर **'स्तस्य थः'** (३-१२) से स्त को थ होने पर **'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से थ को भी द्वित्व होने पर **वर्गेषुयुजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व थ को त होने पर **'सोविन्दु नं पुसंके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८१. पल्लाणं—

इसकी मूल प्रकृति **'पर्याणं'** है। सर्वप्रथम **'पर्यस्तपर्याण सौकुमार्येषुलः'** (३-२१) से र्य को ल होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ल को द्वित्व होने पर **'सोर्विन्दुर्न पुसं'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

२८२. पसुत्तं, पासुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति **'प्रसुप्तम्'** है जिसका अर्थ सोया हुआ है। सर्वप्रथम **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से र का लोप होने पर **'आसमद्धया दिषुवा'** (१-२) से अ को विकल्प से आ होने पर प तथा पा हुआ फिर **'उपरिलोपः कग ड त दप षसाम्'** (३-१) से प का लोप होने पर **'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर **'सो विन्दु नं पुसंके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८३. पहरो, पहारो—

इनकी मूल प्रकृति **'प्रहरः'** है। सर्वप्रथम **'सर्वत्रलवराम्'** (२-२) से र् क लोप होने पर **'अदातो यथा दिषुवा'** (१-५०) से ह को विकल्प से हा होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२८४. पहो—

इसकी मूल प्रकृति 'पथिन्' है। सर्वप्रथम 'अन्त्य हलः' (४-६) से अन्तिम न् का लोप होने पर 'अत् पथि हरिद्रा पृथिवीषु' (१-१३) से इ को अ होने पर 'खघ थ ध भां हः' (२-२७) से थ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२८५. वावडणं, वाअवडणं—

इनकी मूल प्रकृति 'पाव पतनम्' है जिसका अर्थ पैरों पर गिरना है। पाद+पतनम् इस रूप में सर्वप्रथम 'पोवः' (२-१५) इस सूत्र से पाद के प को व होने पर 'कग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) इस सूत्र से द् का लोप होने पर 'सन्धाव चाम ज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर 'वा' रह जाता है। पतनम् के प को 'पोवः' (२-१५) से व होने पर 'शब् लु पत्योर्डः' (२-५१) से त को ड हो गया और 'णोनः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सोविन्दुर्न पुसंके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'वावडणं' यह रूप बनता है। जिस पक्ष में अ का लोप नहीं होता है वहां 'वाअवडणं' यह रूप बनता है।

२८६. पाउसो--

इसकी मूल प्रकृति 'प्रावृषः' है जिसका अर्थ वर्षा है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र-लवराम्' (३-३) इस सूत्र से 'प्रा' के र तथा 'वृ' के 'व्' का लोप होने पर 'उदस्वाविषु' (१-२९) से ऋ को उ होने पर 'दिक् प्रावृषोः सः' (४-११) से ष् को स् होने पर 'नसान्त प्रावृट्शरदः पुंसि' (४-१२) से इस को पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२८७. पाणाइन्तो--

इसकी मूल प्रकृति 'प्राणवत्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'सन्धाव चा मज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अच् कार्य (दीर्घ होने पर) 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेंता मतुपः' (४-२५) से वत् के स्थान पर 'इन्त' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

२८८. पाणिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'पानीयम्' है जिसका अर्थ पीने के योग्य होता है। सर्व प्रथम 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१२) इस सूत्र से ई को इ होने पर 'णोनः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण् होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो-लोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२८९. पाराओ पारावओ--

इनकी मूल प्रकृति 'पारावतः' है जिसका अर्थ कबूतर है। 'यावदादिषु वस्य' (४-५) इस सूत्र से व का लोप विकल्प से होने पर 'पाराओ' रूप बनता है इसमें व का लोप होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'पाराओ' रूप बनता है—पर जिस पक्ष में व का लोप नहीं होता वहाँ 'पारावओ' रूप बनता है।

२९०. पिआ पिअरो--

इनकी मूल प्रकृति 'पितृ' है। सर्वप्रथम 'आच सौ' (५-३५) इस सूत्र से 'तृ' को 'आ' होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' इस सूत्र से त् का लोप होने पर 'पिआ' यह रूप बनता है। जहां 'आचसौ' (५-३५) से 'अर' हो जाता हैं वहां सब काय पूर्ववत् होने से 'पिअरो' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

२९१. पिक्कं--

इसकी मूल प्रकृति 'पक्वम्' है जिसका अर्थ 'पका हुआ है।' सर्वप्रथम 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजनमृदङ्गाऽङ्गारेषु' (१-३ इस सूत्र से इ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) इस सूत्र से व् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से क् को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुनपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२९२. पुट्ठी----

इसकी मूल प्रकृति 'पृष्ठम्' है जिसका अर्थ पीठ है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-३९) से ऋ को उ होने पर 'ष्टस्य ठः' (३-१०) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' ३-५०) से ठ् को द्वित्व होने पर पूर्व ठ् को 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से ट् होने पर 'प्रष्ठाक्षि प्रइनाः स्त्रियां वा' (४-२०) से स्त्रीलिंग होने पर 'स्त्रीत्वे ई' इस नियम से ई होने पर पुट्ठी रूप बनता है।

२९३. पुडो, पुत्तो--

इनकी मूल प्रकृति 'पुत्रः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'पुत्रोऽपिक्वचित्' (१२-५) से त को विकल्प से ड होने पर जिस पक्ष में ड होता है वहां 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'पुडो' रूप बनता है और जिस पक्ष में ड नहीं होता वहाँ 'सर्वत्रलवराम्' (३-३)

से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर तथा 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर पुत्तो रूप बनता है।

२८४. पुप्फं—

इसकी मूल प्रकृति 'पुष्पम्' है। सर्वप्रथम 'ष्पस्य फः' (३-३५) से ष्प को फ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व के फ् को प् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८५. पुरिल्लं—

संस्कृत में 'पौरस्त्य' का जो अर्थ होता है वही अर्थ प्राकृत भाषाओं में 'पुरिल्ल' का होता है। पुरोभवं=पुरिल्लं। इनमें पुरस् शब्द है। 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर 'आल्विल्लो ल्लालवन्तेन्तामतुपः' (४-२५) से 'इल्ल' आदेश होने पर तथा 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८६. पुव्वण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'पूर्वाह्णः' है। इसका अर्थ दिन का पूर्व भाग है। सर्वप्रथम 'सन्धा वचा म ज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से पू को पु होकर 'सर्वत्रलवरम्' (३-३) से र् का लोप होने पर तथा 'ह्न ह्ल होषु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) से न् की स्थिति ह से पूर्व ऊपर हो करके 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण् होने पर 'ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) से वा को व होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

२८७. पुहवी—

इसकी मूल प्रकृति 'पृथिवी' है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से पृ को पु होने पर 'अत् पथि हरिद्रा पृथिवीषु' (१-१३) से थि की इ को अ होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से ध को ह होने पर यह रूप बनता है।

२८८. पेट्ठं, पिट्ठं—

इनकी मूल प्रकृति 'पिष्टम्' है। सर्वप्रथम 'इत् ऐत् पिण्ड समेषु' (१-१२) से पि को पे होने पर 'ष्टस्यठः' (३-१०) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ठ् को ट् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर पेट्ठं रूप बनता है पर जिस पक्ष में 'ए' नहीं होता वहां पिट्ठं रूप बनता है।

२९९. पेण्डं, पिण्डं—

ये दोनों रूप 'पिण्डम्' के होते हैं। 'इतएत् पिण्ड समेषु' (१-१२) से इ को ए होने पर यह रूप बनते हैं (विकल्प से इ को ए होता है)

३००. पेम्मं—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रेमम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से म् को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) विन्दु से (ं) होने पर यह रूप बनता है।

३०१. पेरन्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'पर्यन्तम्' है। सर्वप्रथम 'एशय्यादिषु' (१-५) से प के अ को ए होने पर 'तूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषरः' (३-१८) से र्य को र होने पर 'सोर्बिन्दु र्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

३०२. पोक्खरो—

इसकी मूल प्रकृति 'पुष्करः' है जिसका अर्थ तालाब है। सर्व प्रथम 'उत ओत् तुण्डरूपेषु' (१-२०) से 'प' को ओ होने पर 'ष्क स्कक्षां खः' (३-२९) से ष्क को ख होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ख को क् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३०३. पोत्थओ—

इसकी मूल प्रकृति 'पुस्तकम्' है। सर्वप्रथम 'अत ओत् तुण्ड रूपेषु' (१-२०) से पु को पो होने पर 'स्तस्थथः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से थ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ् को त् होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३०४. फंसो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्पर्शः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य' (३-३६) से स्प को फ होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) इस सूत्र से विन्दु (ं) होने पर 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३०५. फणसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पनसः' है जिसका अर्थ कटहल है। 'पनसेऽपि' (२-३७) से प को फ होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'फणसो' यह रूप होता है।

३०६. फंदणं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्पन्दनम्' है जिसका अर्थ 'कुछ कुछ चलना' है। सर्व प्रथम 'स्पस्यसर्वत्र स्थितस्य' (३-३६) से स्प को फ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोविंदुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३०७. फरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्पर्शः' है। सर्वप्रथम 'इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्हि गर्हेषु' (३-६२) से युक्त वर्ण का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होने पर तथा इ होने पर 'स्परिश' यह रूप होता है तब 'स्पस्य फः' (३-३५) से स्प को फ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३०८. फलिअं—

संस्कृत में पट गतौ इस धातु से पटितम् यह रूप बनता है जिसका अर्थ चलना है। प्राकृत भाषा में उसका रूप 'फलिअं' बनता है। सर्वप्रथम 'पटे फलः' (८-९) से पट के स्थान पर फल होने पर 'क्ते' (७-३२) से इ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३०९. फलिहा—

इसकी मूल प्रकृति 'परिखा' है जिसका अर्थ परकोटा है। सर्वप्रथम 'हरिद्रादीनां रोलः' २-३०) से र को ल होने पर 'परुष परिघ परिखासु फः' (२-३६) से प को फ होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'फलिहा' सिद्ध होता है।

३१०. फरुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'परुषः' है जिसका अर्थ कठोर है। सर्वप्रथम 'परुष परिघ परिखासुः फः' (२-३६) से प को फ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३११. फलिहो—

इसकी मूल प्रकृति 'परिघः' है जिसका अर्थ एक विशेष अस्त्र है। सर्व प्रथम 'परुष परिघ परिखासुफः' (२-३६) से प को फ होने पर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) से र को ल होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से घ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३१२. फलिहो—

यह रूप 'स्फटिकः' का भी बनता है जिसका अर्थ फिटकरी है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः कग डतदपषसाम्' (३-१) से स् का लोप होने पर 'स्फटिकेल.' (२-२२) से ट को ल होने पर 'स्फटिक निकषचिकुरेषु कस्य हः' (२-४) से क को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३१३. भअप्फई—

इसकी मूल प्रकृति 'बृहस्पति' है। सर्वप्रथम 'बृहस्पतौ बहोर्भ ओ' (४-३०) से 'ब' तथा 'ह' को क्रमशः भ अ होने पर 'ऋतोऽत्' (२-२७) इस सूत्र से ऋ को अ होने पर 'स्पस्य फः' (३-३५) से स्प को फ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व फ को प् होने पर 'कगचज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'भअप्फई' यह रूप सिद्ध होता है।

३१४. भइरवो—

इसकी मूल प्रकृति 'भैरवः' है जिसका अर्थ भयानक है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वई' (१-३६) से ऐ को अ इ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'भइरवो' यह रूप बनता है।

३१५. भत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'भक्तम्' है। सर्व प्रथम 'उपरि लोपः कगडतदप षसाम्' (३-१) से क् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके" (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर 'भत्तं' बनता है।

३१६. भत्तारो—

संस्कृत में भर्तृ से 'भर्ता' रूप बनता है जिसका अर्थ स्वामी या पालक होता है उसी भर्ता का प्राकृत में 'भत्तारो' प्रयोग होता है। 'ऋतआरः सुपि' (५-३१) से 'आर्' होने पर 'सर्वत्रलवरान्' से (३-३) से र् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। इसमें 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व भी होता है।

३१७. भद्दं—

इसकी मूल प्रकृति 'भद्रम्' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'मोविन्दुः' (४-१२) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३१८. भ्रमिरो—

संस्कृत में शील या स्वभाव अर्थ में तृ न् प्रत्यय लगता है उसी अर्थ में 'भ्रमणशीलः' संस्कृत में प्रयुक्त होता है पर प्राकृत भाषा में घुमक्कड़ या घूमनेवाले को 'भ्रमिरो' कहते हैं। इसमें 'तृण इरः शीले' (४-२४) से इर हो जाता है और 'अत ओत् सोः' (५-१ से ओ होने पर यह रूप बनता है। कुछ लोगों के मत में 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'भमिरो' रूप भी बनता है।

३१९. भरणिज्जं भरणीअं—

इनकी मूल प्रकृति 'भरणीयम्' है जिसका अर्थ भरण पोषण करने योग्य होता है। इसमें 'उत्तरीयानीययो र्ज्जो वा' (२-१७) से य के स्थान पर विकल्प से ज्ज होता है। जिस पक्ष में ज्ज होता है वहां ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) के अनुसार ई क. इ हो जाता है और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'भरणिज्जं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ज्ज नहीं होता वहां 'कगचज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'भरणीअ' रूप बनता है।

३२०. भरहो—

इसकी मूल प्रकृति 'भरतः' है। 'वसतिभरतयोर्हः' (२-९) इस सूत्र से त को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३२१. भाणं, भाअणं—

इनकी मूल प्रकृति 'भाजनम्' है जिसका अर्थ पात्र है। भाणं में 'भाजनेजस्य' (४-४) से स्वर सहित ज का लोप होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'भाणं' बनता है। जिस पक्ष में ज का स्वर सहित उपर्युक्त सूत्र से लोप नहीं होता वहां 'क ग च ज तद पयवां प्रायालोपः' (२-२) इस सूत्र से ज् का लोप होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'भाअणं' यह रूप होता है।

३२२. भाआ, भाअरो—

ये दोनों रूप 'भ्राता' से बनते हैं। मूल शब्द भ्रातृ है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से 'भ्रा' के र् का लोप होने पर 'आच सौ' (५-३५) से तृ को ता होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'भाआ' यह रूप बनता है। 'आच सौ' (५-३५) इस सूत्र से आ भी होता

है और अर भी होता है। 'भाअरो' में और तब काम पूर्ववत् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३२३. भारिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'भार्या' है जिसका अर्थ स्त्री है। 'र्यस्यरिअः' (१०-८) इस सूत्र से र्य को रि अ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

३२४. भिंगारो—

इसकी मूल प्रकृति 'भृङ्गारः' है जिसका अर्थ 'सोने का बरतन' है। 'इ दृष्यादिषु' (१-३८) इस सूत्र से 'भृ' को 'इ' होने पर 'यथि तद्वर्गान्तः' (४-१७) से वर्गान्त विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

३२५. भिंगो—

इसकी मूल प्रकृति 'भङ्गः' है जिसका अर्थ 'भौंरा' है। 'इ दृष्यादिषु' (१-२८) इस सूत्र से 'भृ' के ऋ को इ होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४१७) इस सूत्र से बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

३२६. भिण्डिवालो—

इसकी मूल प्रकृति 'भिन्दिपालः' है जिसका अर्थ पत्थर का बना अस्त्र विशेष है। सर्वप्रथम 'भिन्दिपालेण्डः' (३-४६) से 'न्द' के स्थान पर 'ण्ड' होने पर 'पोवः' (२-१५) से प् को व् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

३२७. विब्भलो, विहलो, भिब्भलो—

इन की मूल प्रकृति 'विह्वलः' है जिसका अर्थ व्याकुल है। सर्वप्रथम 'विह्वले भ हौ वा' (३-४७) से 'ह्व' को विकल्प से भ तथा ह होते हैं। जिस पक्ष में भ हुआ वहाँ भ को 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-१५) से द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः (३-५१) से भ को ब होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'विब्भलो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में ह होता है वहां 'विहलो' बनता है। 'नरहो' (३-५४) से ह को द्वित्व नहीं होता। हेमचन्द्र के अनुसार 'भिब्भलो' भी रूप बनता है। 'वा विह्वले बौ वश्च' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से ह्व को विकल्प से भ होता है और जहां भ होता है वहां प्रथम व को भी भ हो जाता है।

३२८. भिसिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'विसिनी' है। सर्वप्रथम 'विसिन्यां भः' (२-३८) इस सूत्र से व को भ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर यह रूप बनता है। इसका अर्थ कमलिनी है।

३२९. भुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'भुक्तम्' है जिसका अर्थ खा लिया है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः क ग ड तदपवसाम्' (३-१) से क् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं मनाक्' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३०. मअं—

इसकी मूल प्रकृति 'मृतम्' है। ऋतोऽत् (१-२०) से मृ को म होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३१. मइलं मलिणं—

इसकी मूल प्रकृति 'मलिन' है। सर्वप्रथम 'मलिनेलिनोरिलोत्वा' (४-३१) से लि को इ तथा न को ल होते हैं पर विकल्प से होते हैं। जिस पक्ष में ये दोनों आदेश हो जाते हैं वहाँ 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'मइलं' रूप बनता है और जिस पक्ष में ये दोनों आदेश नहीं होते वहाँ 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) ने न को ण होने पर पूर्ववत् विन्दु होने पर 'मलिणं' यह रूप बनता है।

३३२. मउडं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुकुटम्' है। 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) से मु को म होकर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'टोडः' (२-२०) से ट् को ड होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३३. मउलं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुकुल' है जिसका अर्थ कली है। 'सर्वप्रथम 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) से मु को म होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३४. मोरो, मऊरो—

इनकी मूल प्रकृति 'मयूरः' है। सर्वप्रथम 'मयूर मयूखयोर्व्वा वा' (१-८) से मयूर के यू के साथ अ को विकल्प से ओ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'मोरो' रूप बनता है। जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहाँ 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'मऊरो' यह रूप सिद्ध होता है।

३३५. मोहो, म ऊ हो—

इनकी मूल प्रकृति 'मयूखः' है जिसका अर्थ किरण है। सर्वप्रथम 'मयूर मयूखयोर्व्वावा' (१-८) से यू के साथ म के अ को ओ होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर मोहो रूप बनता है। जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से य का लोप होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर यह रूप बनता है।

३३६. म ओ—

इसकी मूल प्रकृति 'मदः' है। सर्वप्रथम 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३३७. मंसं मासं—

इसकी मूल प्रकृति 'मांसम्' है। मांसादिषुवा (४-१६) से विकल्प से विन्दु होने पर 'सन्धाव चा मज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से छोटा अ विकल्प से होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३३८. मंसू—

इसकी मूल प्रकृति 'श्मश्रू' है जिसका अर्थ 'दाढ़ी' है। सर्वप्रथम 'श्मश्रू-श्मशानयोरादेः' (३-६) से श् का लोप होने पर 'शषोसः' (२-४३) से श् को स होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३३९. मग्गो—

इसकी मूल प्रकृति 'मार्गः' है जिसका अर्थ रास्ता है। सर्वप्रथम 'सन्धाव-चामज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से मा को म होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ग को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३४०. मच्छिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'मक्षिका' है। सर्वप्रथम 'अक्ष्यादिषुच्छः' (२-३०) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (२-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (२-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (१-२) से क का लोप होने पर यह रूप बनता है।

३४१. मज्झण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'मध्याह्नः' है जिसका अर्थ दोपहर है सर्वप्रथम 'मध्याह्ने हस्य' (२-७) से ह का लोप होने पर 'ध्यह्योझः' (२-२८) से ध्य को झ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (२-५०) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (२-५१) से पूर्व झ को ज् होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (२-५०) से ण को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३४२. मज्झं—

इसकी मूल प्रकृति 'मध्यम्' है जिसका अर्थ 'बीच' होता है। सर्वप्रथम 'ध्यह्योझः' (२-२८) से ध्य को झ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (२-५०) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (२-५१) पूर्व झ को ज् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३४३. मअं—

इसकी मूल प्रकृति 'मृतम्' है। सर्वप्रथम मृ के ऋ को 'ऋतोऽत' (१-२७) से 'अ' होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (१-२) से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३४४. मढं—

इसकी मूल प्रकृति 'मठः' है। 'ठोढः' (२-२४) से ठ को ढ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३४५. मणंसिणी, माणंसिणी—

इनकी प्रकृति 'मनस्विनी' है। 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से दोनों 'न' को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (२-२) से व का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से विन्दु (ं) होने पर 'आ समृध्यादिषु' (१-२) से विकल्प से 'आ' होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३४६. मणोज्जा—

इसकी मल प्रकृति 'मनोज्ञा' है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सर्वज्ञतुल्येषुज्ञः' (३-५) से ज्ञ की ध्वनि का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ज को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

३४७. मण्डूरो—

संस्कृत में 'मण्डूकः' मेंढक को कहते हैं। प्राकृतिक भाषाओं में उसी अर्थ में 'मण्डूरो' प्रयुक्त होता है। 'दाढावयो बहुलम्' (४-३३) के अनुसार यह शब्द निपात के रूप में प्रयुक्त होता है।

३४८. मंथं—

इसकी संस्कृत की प्रकृति मुस्तम्' है। सर्वप्रथम 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) से मु को म होता है और 'स्तस्थथः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से म के ऊपर विन्दु होने पर 'सोविन्दुपुंसके' (५-३०) से अन्त में विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३४९. वम्महो—

इसकी मूल प्रकृति 'मन्मथः' है जिसका अर्थ कामदेव है। सर्वप्रथम 'मन्मथे वः' (२-३९) से प्रथम म को व होने पर 'न्मोमः' (३-४३) से न्म को म होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से म को द्वित्व होने पर 'खघथधभांहः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३५०. मसाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'श्मशानम्' है। सर्वप्रथम 'श्मश्रुश्मशानयोरादेः' (३-६) से आदि श् का लोप होने पर 'शषो सः' (२-४३) से श को स् होने पर 'नोणःसर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५१. महुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'मधूकम्' है सर्वप्रथम 'उदूतो मधूदके' (१-२४) से ऊ को उ होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से ध को ह होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायोलोपः (२-२) से क् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३५२. महुं—

इसकी प्रकृति 'मधु' है। 'खघथधभां हः' (२-२७) से ध को ह होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है। 'सुभिस्सुप्सु-

दीर्घः' (५-१८) से हु को दीर्घ प्राप्त था पर 'न नपुंसके' (५-२५) से दीर्घ नहीं होता है।

३५३. माअन्दो, मइन्दो—

इसकी मूल प्रकृति 'माकन्दः' है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता। है मइन्दो यह रूप निपात् होता है।

३५४. माआ—

इसकी मूल प्रकृति 'मातृ' है। 'मातुरात्' (५-३२) से तृ की ऋ को आ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'माआ' बनता है।

३५५. माणुसो—

इसकी प्रकृति 'मनुष्यः' है। सर्वप्रथम 'सन्धावचाम ज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से दीर्घ होने पर 'नोणःसर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'शषोसः' (२-४३) से ष् को स होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' हो कर यह रूप बनता है।

३५६. मिअंको—

इसकी मूल प्रकृति 'मृगाङ्कः' है जिसका अर्थ चन्द्रमा है। सर्वप्रथम 'इदृष्यादिषु' (१-२८) से ऋ को इ होने पर भि हुआ तब 'सन्धावचामज्लोप विशेषावहुलम्' (४-१) से आ को छोटा अ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से ण् का लोप होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से ङ् को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३५७. मित्तो, मिओ

इनकी मूल प्रकृति 'मित्रम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'सेवादिषु च' (३-५८) से त् को द्वित्व होने पर 'अतओतसोः' (५-१) से ओ होने पर 'मित्तो' बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां पूर्ववत् र का लोप होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द पषसाम्' (३-१) से त् का लोप होने पर 'अत ओत्सोः' (५-१) से ओ होने पर 'मिओ' यह रूप बनता है।

३५८. मिच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'मिथ्या' है। 'स्थ थ्य र्थां च छ जाः' (३-२७) से थ्य की छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च होने पर 'मिच्छा' बनता है।

३५९. मिलाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'म्लानम्' है। सर्व प्रथम 'इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न-स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३-६२) से संयुक्त म्ल का विप्रकर्ष हो जाता है (स्वरभक्ति) और इकार होने पर तत्स्वरता भी होती है अतः 'मिलानम्' बनता है तब 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सो बिन्दुन पुसंके' (५-३) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३६०. मिइंगो—

इसकी मूल प्रकृति 'मृदङ्गः' है। इसका अर्थ एक विशेष प्रकार का बाजा है। सर्व प्रथम 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गा ऽङ्गारेषु' (१-३) से द के अ को इ होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'इदृष्यादिषु' (१-२८) से मृ की ऋ को इ होने पर 'यथि तद् वर्गाऽन्तः' (४-१७) से ङ् को बिन्दु होने पर 'अत ओत्सोः (५-१) से 'ओ' होकर यह प्रयोग बनता है।

३६१. मुक्खं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुष्कः' है जिसका अर्थ 'वृषण' या 'अण्डकोष' है सर्व प्रथम 'ष्क स्कक्षां खः' (३-२९) से ष्क के स्थान पर ख होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजःपूर्वः (३-५१) से पूर्व ख को क् होने पर 'सो बिन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३६२. मुग्गा—

इसकी मूल प्रकृति 'मुष्कः' है जिसका अर्थ मूँग की दाल है। सर्व प्रथम 'उपरि लोपः क ग ड त दप षसाम्' (३-१) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ग को द्वित्व होने पर 'जश् शस् ङ्ञां सुदीर्घः' (५-११) से दीर्घ होने पर 'जस् शसोर्लोपः' (५-२) से जस् का लोप होने पर यह रूप बनता है।

३६३. मुग्गरो—

इसकी मूल प्रकृति 'मुद्गर:' है। सर्व प्रथम 'उपरि लोप: क ग ड त द पषसाम्' (३-१) से द् का लोप हो होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ग् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३६४. मुच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'मूर्छा' है। 'सर्वत्र लवराम्' (१-३) से र का लोप पर 'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) से 'मू'को ह्रस्व होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३०-५८) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुज: पूर्व:' (३-५१) से पूर्व छ् को च् होने पर यह रूप बनता है।

३६५. मुञ्जाअणो—

इसकी मूल प्रकृति 'मौञ्जायन:' है। सर्वप्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१-४४) से औ को उ होने पर 'क ग च ज तदपयवां प्रायो लोप:' (२-२) से य् का लोप होने पर 'नोण सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) से 'ओ' होकर यह रूप बना है।

३६६. मुणालो—

इसकी मूल प्रकृति 'मृनाल:' है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से मृ को मु होने पर 'णोण:सर्वत्त' (२-४२) से न् को ण होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) से ओ हो जाने पर यह रूप बनता है।

३६७. मुत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'मूर्ति:' है। सर्व प्रथम सर्वत्र लवराम्' (१-३) से र् का लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से ऊ को उ होने पर 'मुत्ति' ऐसा रूप बना, तब 'मुभिस्सुप्सुदीर्घ:' (५-१२) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

३६८. मुद्धो—

इनकी मूल प्रकृति 'मुग्ध:' है। सर्व प्रथम 'उपरि लोप: क ग ड त द पषसाम्' (३-१) से ग् का लोप होने पर शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ध् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुज: पूर्व:' (३-५१) से पूर्व ध् को द् होने पर 'अत ओत् सो:' (५-१) से ओ होकर यह रूप बनता है।

३६९. मुहं—

इसकी मूल प्रकृति 'मुखम्' है। 'खघ थध भां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता ह।

३७०. मुहलो—

इसकी मूल प्रकृति मुखरः' है जिसका अर्थ वाचाल या बहुत बोलने वाला है। सर्व प्रथम 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) से र को ल होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर वह रूप बनता है।

३७१. मूढत्तणं—

इसकी मूल प्रकृति 'मूढत्वम्' है। 'तल् त्वयोर्दात्तणौ' (४-२२) से त्व के स्थान पर 'त्तण' होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर 'मूढत्तणं' यह बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश में 'मूढप्पणं' यह बनता है क्योंकि 'त्वतलोः प्पणः' इस सूत्र से 'प्पणः' वह आदेश होता है।

३७२. मूढदा—

इसकी मूल प्रकृति 'मूढता' है। मूढता में भी तल् प्रत्यय है प्राकृत में 'तलत्वयोर्दातणौ' (४-२२) से तल् के स्थान पर दा हो जाने पर यह रूप बनता है।

३७३. मेहला—

इसकी मूल प्रकृति 'मेखला' है जिसका अर्थ करधनी या मौञ्जी है। 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर यह रूप बनता है।

३७४. मेहो, मेखो—

इनकी मूल प्रकृति मेघः है। प्राकृत भाषाओं में पैशाची को छोड़कर इसका रूप मेहो बनता है। 'खघथध भां हः' (२-२७) से घ को ह होने पर 'अतओत्सोः' (५-१) से ओ होता है। पर पैशाची में मेखो बनता है। वहां 'वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यो' १०-२) से वर्गों के तीसरे और चौथे के स्थान पर पहले तथा दूसरे वर्ण होते हैं अतः चौथे घ के स्थान पर दूसरा ख होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बना।

३७५. मोत्ता—

इसकी मूल प्रकृति 'मुक्ता' है। 'उत ओत् तुण्ड रूपेषु' (१-२०) से मु के उ को ओ होने पर मो बना तब 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) से

क् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर मोत्ता रुप सिद्ध होता है।

३७६. रअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'रटनम्' है। 'क्लिष्टश्लिष्टरत्नक्रियाशार्ङ्गेषु तत्स्वर वत्पूर्वस्य' (३-६०) से ट को त विप्रकर्ष हो जाता है और 'उपरिलोपः क ग ड त दपषसाम्' (३-१) से त का लोप होने पर 'णोणःसर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३७७. रअदं—

इसकी मूल प्रकृति 'रजतम्' है। जिसका अर्थ चांदी है। सर्वप्रथम 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से ज् का लोप होने पर 'ऋत्वादिषु तोदः' (२-७) से त को द होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'रअदं' बनता है।

३७८. रच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'रथ्या' है। जिसका अर्थ सड़क या मार्ग है। सर्वप्रथम 'त्थथ्यछांचछजाः' (३-२७) से थ्य को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को द्वित्व होने से च् होने पर यह प्रयोग बनता है।

३७९. रण्णं—

इसकी मूल प्रकृति 'अरण्यम्' है जिसका अर्थ जङ्गल है। 'लोपोऽरण्ये' (१-४) से अ का लोप होने पर 'अधो मनयाम्' (३-२) से य का भी लोप हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ण को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३८०. रण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'राजन्' है। राजन् शब्द की षष्ठी के एक वचन में यह रूप बनता है। 'जश्शस्ङसांणो' (५-३८) से ङस् के स्थान पर ण हो जाता है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से ज् का लोप होता है य का लोप भी इसी सूत्र से होता है। 'ङसश्चद्वित्ववान्त्यलोपश्च' (५-४२) से ण को द्वित्व होता है और अन्त्य अ का लोप भी होता है। रा के आ को छोटा अ 'सन्धावचामज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से होता है और ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) से ह्रस्व हो जाता है।

३८१. रत्तं—

इसकी प्रकृति 'रक्तम्' है जिसका अर्थ खून है। 'क्तेन दिण्णादयः' (८-६२) से यह शब्द 'रञ्जि' धातु से निपात के रूप में प्रयुक्त होता है।

३८२. रत्ती, राई—

इनकी मूल प्रकृति 'रात्रि' है। 'सन्धावचामज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से रा को ह्रस्व होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से त्रि के र् का लोप होने पर 'सेवादिषुच' (३-५८) से त् को विकल्प से द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः (५-१८) से दीर्घ होने पर 'रत्ती' रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां ह्रस्व भी नहीं होता उस पक्ष में 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्' (३-१) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'राई' प्रयोग बनता है।

३८३. रमणिज्जं, रमणीअं—

इनकी मूल प्रकृति 'रमणीयम्' है। सर्वप्रथम 'उत्तरीया नीययोज्जोवा' (२-१७) से विकल्प से य को ज्ज होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषाः बहुलम्' (४-१) से ह्रस्वः संयोगे के अनुसार ह्रस्व होने पर रमणिज्जं रूप बनता है 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु भी होता है। पर जिस पक्ष में ज्ज नहीं होता वहाँ संयोग न होने से ह्रस्व भी नहीं होता और 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर सोविन्दुर्नपुंसके' से विन्दु होने पर 'रमणीअं' रूप बनता है।

३८४. रस्सी—

इसकी मूल प्रकृति 'रश्मिः' है जिसका अर्थ किरण है। सर्वप्रथम 'अधोमनयाम्' (३-२) से म का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् का स् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से स् को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३८५. राउलं, राअउलं—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'राजकुलम्' है सर्वप्रथम 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क का लोप होने पर और इसी से ज् का भी लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से विकल्प से अ का भी लोप होने पर 'राउलं' तथा 'राअउलं' ये दो रूप बनते हैं।

३८६. राआ—

इसकी प्रकृति 'राजन्' है। 'राज्ञश्च' (५-३६) से 'जन्' के स्थान पर आ होने पर यह रूप बनता है।

३८७. राआणो—

राजन् शब्द से प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय में यह रूप बनता है। राजन्+जस् इस अवस्था में जस् के स्थान पर 'जस्शस्ङसांणो' (५-३८) से णो होन पर 'अन्त्यहल:' (४-६) से न् का लोप होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायोलोपः' (२-२) से ज् का लोप होने पर 'आ णो णमोरङसि' (५-४४) से आ होने पर राआणो यह रूप बनता है।

३८८. राचिना, रञ्जा—

पैशाची प्राकृत में राजन् शब्द की तृतीया के एक वचन में टा प्रत्यय के परे ये दो रूप बनते हैं। राजन्+टा इस अवस्था में 'राज्ञोराचिटाङसिङस्ङिषु वा' (१०-१२) से 'राचि' विकल्प से होने पर 'टाणा' (५-४१) से टा को णा होने पर 'णोनः' (१०-५) से ण को न होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से न् का लोप होने पर 'राचिना' प्रयोग बनता है। जिस पक्ष में राचि नहीं होता वहां 'राज्ञा' इस प्रयोग में 'ज्ञस्यञ्जः' (१०-९) से ञ्ज होने पर 'ह्रस्वःसंयोगे' (हेमचन्द्र) से ह्रस्व होने पर 'रञ्जा' रूप बनता है।

३८९. रासहो—

इसकी मूल प्रकृति 'रासभः' है जिसका अर्थ 'गधा' है। 'खघथधभां हः' (२-२७) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३९०. राहा—

यह शब्द 'राधा' से बना है इसमें भी 'खघथधभां हः' (२-२७) से ध को ह होने पर 'राहा' बनता है।

३९१. रिणं—

यह प्रयोग 'ऋणम्' से बना है। 'ऋरीति' (१-३०) से ऋ को रि होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३९२. रिद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋद्धः' है जिसका अर्थ धन सम्पन्न हैं। इसमें भी 'ऋरीति' (१-३०) से ऋ को रि होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त दप षसाम्' (३-१) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ध को

द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ध को द् होने पर अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'रिद्धो' यह प्रयोग बनता है ।

३९३. रिच्छो—

इसकी मूल प्रकृति 'ऋक्षः' है जिसका अर्थ रीछ या भालू है । सर्वप्रथम 'ऋरीति' (१-३०) से ऋ को रि होने पर 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) से क्ष के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजःपूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होकर यह रूप बना है ।

३९४. रूक्खो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृक्षः' है जिसका अर्थ पेड़ है । 'वृक्षे वेन रूर्वा' (१-३२) से वृ को रु होने पर 'ष्कस्कक्षां खः' (३-३९) से क्ष को ख होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः (३-५०) से पूर्व ख को क् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है ।

३९५. रूण्णं—

यह प्रयोग संस्कृत के 'रूदितम्' के रूप में निः पतित है 'क्रेन विण्णादयः (८-६२) से यह क्त प्रत्यय के योग में निपात् रूप में प्रयुक्त है ।

३९६. रूद्दो—

इसकी मूल प्रकृति 'रूद्रः' है । 'द्रे रो वा' (३-४) से द्र के र् का विकल्प से लोप होता है । लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से द को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है ।

३९७. रूप्पं—

इसकी मूल प्रकृति 'रूक्म' है इसका अर्थ सोना भी है और एक राजा का नाम भी था । 'क्मस्य' (३-४९) से क्म के स्थान पर प हो जाता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से प को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुर्न पुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है ।

३९८. रूप्पिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'रुक्मिणी' है । इसमें भी 'क्मस्य' (३-४९) से क्म के स्थान पर प होने पर शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से प को द्वित्व होने पर यह प्रयोग बना है ।

३९९. लच्छी—

इसकी मूल प्रकृति 'लक्ष्मी' है। 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) से क्ष् के स्थान पर छ होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से म् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५० से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४००. लट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'यष्टिः' है जिसका अर्थ लाठी है। 'यष्ट्यां लः' (२-३२) से य को ल होने पर 'ष्टस्यठः' (३-१०) से 'ष्ट' के स्थान पर 'ठ' होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ठ को द्वित्व हुआ और 'वर्गेषुयुजः पूर्वः (३-५१) से पूर्व ठ को ट् होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर लट्ठी प्रयोग बनता है।

४०१. लस्कशे—

इसकी मूल प्रकृति 'राक्षसः' है। 'क्षस्य स्कः' (११-८) से क्ष के स्थान पर स्क होता है और 'रसोर्लशौ' (हेमचन्द्र) के अनुसार र का ल हो जाता है। ह्रस्वः संयोगे' (हेमचन्द्र) से रा को ह्रस्व भी होता है। 'षसोशः' (११-३) से स को श होने पर 'अ त इ दे तौ लुक्च्' (११-१०) से ए होने पर लस्कशे प्रयोग बनता है।

४०२. लहुई—

इसकी मूल प्रकृति 'लघ्वी' है जिसका अर्थ छोटी है। सर्वप्रथम 'उपद्मतन्वी समेषु' (३-६५) से संयुक्त घ् को विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होकर उ भी इसी सूत्र से होता है। 'खघथधभां हः' (२-२७) से घ का ह होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः' (२-२) से व् का लोप होने पर 'लहुई' यह प्रयोग बना है।

४०३. लाआ—

हेमचन्द्र के अनुसार राजा का रूप लाआ बनता है। इसमें 'रसोर्लशौ' (हेमचन्द्र) से र को ल होने पर 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः (२-२) से ज का लोप होने पर 'लाआ' बनता है।

४०४. लिच्छा—

इसकी मूल प्रकृति 'लिप्सा' है जिसका अर्थ चाह या अभिलाषा है। सर्व प्रथम 'इच्छत्सप्सांछः (३-४०) से प्स को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व

मनादौ (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर **वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४०५. लुद्धओ, लोद्धओ—

इनकी मूल प्रकृति 'लुब्धकः' है जिसका अर्थ लालची है। सर्वप्रथम **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से व् का लोप होने पर **'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर **'वर्गेषुयुजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व ध् को द् होने पर **'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से क् का लोप होने पर **'अत ओत् सोः'**(५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। **'उतओत् तुण्ड रूपेषु'** (१-२०) से विकल्प से ओ होने पर लोद्धओ बनता है।

४०६. लोणं—

इसकी मूल प्रकृति **'लवणम्'** है। **'लवणनव मल्लिकयोर्वेन'** (१-७) से व को ओ होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४०७. वअणं—

यह **'वचनम्'** से बना है। **'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से च् का लोप होने पर नोणः सर्वत्र (२-४२) से न को ण होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४०८. विउलं—

इसकी प्रकृति **'विपुलं'** है। **'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से प् का लोप होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४०९. वइदेसो—

इसकी मूल प्रकृति **'वैदेशः'** है। **'दैत्यादिष्वइ'** (१-३६) से ऐ को अइ होने पर **'शषोः सः'** (२-४३) से श को स होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१०. वइदेहो—

इसकी मूल प्रकृति **'वैदेहः'** है। इसमें भी **'दैत्यादिष्वइ'** (१-३६) से ऐ को अइ होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४११. वइरं—

इसकी प्रकृति **'वैरम्'** है **'दैत्यादिष्वइ'** (१-३६) से ऐ को अइ होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४१२. वइसाहो—

इसकी मूल प्रकृति 'वैशाखः' है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१-३६) से ऐ को अइ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४१३. वइसिओ—

इसकी मूल प्रकृति 'वैशिकः' है जिसका अर्थ वेश धारण करने वाला है। 'दैत्यादिष्वइ' (१-३६) से ऐ को अइ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१४. वइसंपाइणो—

इसकी मूल प्रकृति 'वैशम्पायन' है। सर्वप्रथम 'दैत्यादिष्वइ' (१-३६) से ऐ को अइ होने पर 'शषोः सः' (२४३) से श् को स होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से शम् के म् को विन्दु होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१५. वक्कलं

इसकी मूल प्रकृति 'वल्कलम्' है जिसका अर्थ छाल है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयो र्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

४१६. विक्कवो—

इसकी मूल प्रकृति 'विक्लवः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४१७. वग्गी—

इसकी मूल प्रकृति 'वाग्मी' है जिसका अर्थ विद्वान् या बोलने में चतुर है। सर्वप्रथम 'अधोमनयाम्' (३-२) से म् का लोप होने पर 'सन्धा वचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से वा के आ को अ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व-मनादौ' (३-५०) से ग् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

४१८. वंकं—

इसकी मूल प्रकृति 'वक्रम्' है जिसका अर्थ टेढ़ा है। सर्वप्रथम 'सर्वत्र-लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से व के ऊपर

विन्दु होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु (ं) होने पर यह प्रयोग बना है।

४१९. वच्छा—

संस्कृत में वृक्ष शब्द का कर्ताकारक बहुवचन में (वृक्ष+जस्) में वृक्षाः रूप बनता है। प्राकृत में उसी का वच्छा रूप होता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर व हुआ तब 'क्षमावृक्ष क्षणेषुवा' (३-३१) से क्ष को विकल्प से छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'जस् शस् ङस्यांसु दीर्घः' (५-११) से छ को दीर्घ होने पर वच्छा प्रयोग बना 'जश्शसोर्लोपः' (५-२) से जस् का लोप भी होता है।

४२०. वच्छो—

इसकी मूल प्रकृति वृक्षः है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'क्षमावृक्ष क्षणेषुवा' (३-३१) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ हो जाने पर यह रूप बनता है।

४२१. वच्छाणां—

संस्कृत के 'वृक्षाणाम्' से यह रूप बनता है यह षष्ठी का बहुवचन है। 'टामोर्णः' (५-४) से न के स्थान पर ण होता है और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होता है शेष कार्य (४-१९) के प्रयोग के अनुसार होते हैं।

४२२. वच्छरो—

इसकी मूल प्रकृति 'वत्सरः' है जिसका अर्थ वर्ष या साल है। 'इचत्सप्सां छः' (३-४०) से 'त्स' के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ हो जाने पर यह प्रयोग बनता है।

४२३. वज्झओ—

इसकी मूल प्रकृति 'वाह्यकः' है। 'ध्यह्योर्झः' (३-२२) से ह्य को झ होने पर 'शेषादेयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व झ को ज् होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होकर यह प्रयोग बना है।

४२४. वंचणीअं, वञ्चणीअं—

इनकी मूल प्रकृति 'वञ्चनीयम्' है। 'नञोर्हलि' (४-१४) से ञ् के स्थान पर विकल्प से विन्दु (ं) होता है और म् भी होता है। वचंणीअं में ञ् को विन्दु होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर वचंणीअं रूप बनता है पर जिस पक्ष में विन्दु नहीं होता वहां म् होने पर 'वञ्चणीअं' यह रूप बनता है।

४२५. वलही—

इसकी मूल प्रकृति 'वलभी' है जिसका अर्थ 'छत को छाने के लिए जो टेढ़ी लकड़ियां डाली जाती हैं उनको वलभी या गोपानसी कहते हैं। सर्व प्रथम 'डस्यच' (२-२३) से ड को ल होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से भ को ह होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२६. वडिसं—

इसकी मूल प्रकृति 'वडिश' है जिसका अर्थ एक प्रकार का कांटा है। 'शषोः सः'(२-४३) से श् को स् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२७. वणं—

यह शब्द 'वनम्' से बना है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४३) से न् को ण होने पर 'मो विन्दुः' (४-१२) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बना है।

४२८. वंण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्णः' है। सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से विन्दु होने पर "शेषादेशयो द्वित्व मनादौ ३-५०) से ण् को द्वित्व होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२९. वण्ही—

इसकी मूल प्रकृति 'वह्नि' है। इसका अर्थ आग है। सर्वप्रथम 'ह्नस्नण्-क्ष्णश्नांण्हः (३-३३)' से ह्न को ण्ह होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४३०. वत्तमाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्तमानम्' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके'

(५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। 'तंस्यटः' (३-२२) से त को ट प्राप्त था पर 'नधूर्तादिषु' (३-२४) से नहीं होता।

४३१. वत्ता—

इसकी मूल प्रकृति 'वार्त्ता' है जिसका अर्थ बात है। सर्व प्रथम 'सर्वत्र-लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'संधावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से वा को व होने पर यह रूप बन जाता है। इसमें 'तंस्य टः' (३-२२) से त को ट प्राप्त था पर 'नधूर्तादिषु' (३-२४) से निषेध होने पर नहीं होता।

४३२. वत्तिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्तिका' है जिसका अर्थ बत्ती है। सर्व प्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर यह रूप बनता है।

४३३. वद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृद्धः' है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर वृ का व हुआ तब 'उपरिलोपः कग डत दप षसाम्' (३-१) से द का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ध् को द् होने पर 'अतओत् सोः' (१-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४३४. वृंदं वंदं—

इनकी मूल प्रकृति 'वृन्दम्' है जिसका अर्थ झुण्ड या समूह है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'वृन्देवोरः' (४-२७) से व के परे विकल्प से र् होने पर जिस पक्ष में र् हुआ वहां व्र रूप हुआ। 'यथितद् वर्गान्तः' (४-११) से न् को बिन्दु होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से अन्त में बिन्दु होने पर वृंदं रूप बनता है पर जिस पक्ष में र् नहीं होता वहां ऋतोऽत् (१-२७) से अ होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर वंदं यह प्रयोग सिद्ध होता है।

४३५. वाहो, वप्फो—

इनकी मूल प्रकृति 'वाष्पः' है। बाष्प का अर्थ भाफ भी होता है और आंसू भी होता है। आंसू के अर्थ में जब इसका प्रयोग होता है तब 'वाष्पे अश्रुणि हः' (३-३८) से ष्प को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से

ओ होने पर 'वाहो' रूप बनता है। इसमें 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ह को द्वित्व प्राप्त था पर 'न र होः' (३-५४) से नहीं होता। जहां पर वाष्प का अर्थ भाफ होता है वहां 'ष्पस्य फः' (३-३५) से ष्प को फ होने पर 'संधावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से वा को व होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व फ् को प् होने पर 'अत ओत् सोः' (४-१) से ओ होने पर 'वप्फो' प्रयोग बनता है।

४३६. वम्महो—

इसकी मूल प्रकृति 'मन्मथः' है जिसका अर्थ कामदेव है। सर्वप्रथम 'मन्मथे वः' (२-३९) से प्रथम म को व होने पर 'न्मो मः' (३-४३) से 'न्म' को म् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से म् को द्वित्व होने पर 'खघथधभांहः' (२-२) से थ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४३७. वम्मो—

इसकी मूल प्रकृति 'वर्मन्' है जिसका अर्थ रक्षा करने वाला है। सर्व प्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से म को द्वित्व होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से न् का लोप होने पर 'नसान्त प्रा वृ ट् सरदः पुंसिः (४-१८) से पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

४३८. बम्हञ्जो, बह्मण्णो—

इनकी मूल प्रकृति 'ब्रह्मण्यः' है। सर्व प्रथम 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'ह्म ह्म ह्मे षु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) से ह्म का रूप म्ह हो जाता है अर्थात् म् की स्थिति ह से पूर्व हो जाती है 'वम्ह' ऐसा रूप बनता है तब 'ब्रह्मण्य विज्ञयज्ञन्यकानां ण्य ज्ञन्यानां ञ्जो वा' (१२-७) से विकल्प से अर्थात् शौरसेनी में ञ्ज होता है विकल्प से पर पैशाची में नित्य ही होता है। इस प्रकार ण्य का 'ञ्ज' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'वम्हञ्जो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में ञ्ज नहीं होता वहा सब कार्य पूर्ववत् होने पर अर्थात् र् का लोप 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से होने पर 'ककचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ण् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'वम्हण्णो' रूप बनता है।

४३९. वम्हणो—

इसकी मूल प्रकृति 'ब्राह्मणः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (२-३) से र् का लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से आ को अ होने पर 'ह्मल्ह्लह्मे षु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) से ह्म को 'म्ह' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'वम्हणो' रूप बनता है।

४४०. वह्मा—

इसकी मूल प्रकृति 'ब्रह्मन्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से न् का लोप हुआ और 'ब्रह्माद्या आत्मवत्' (५-४) से आत्मा के समान ही ब्रह्मा की भी सिद्धि होने पर 'राज्ञश्च' (५-३६) से आ होने पर 'वह्मा' बनता है।

४४१. वलिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'व्यलीकम्' है। जिसका अर्थ उलटा या विपरीत होता है। सर्व प्रथम 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'इदीतः पानी या दिषु' (१-१८) से ई को इ होने पर 'कगचजत दपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४४२. वसही—

इसकी मूल प्रकृति 'वसतिः' है जिसका अर्थ निवास स्थान है। सर्व प्रथम 'वसतिभरतयोर्हः' (२-९) से त को ह होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४४३. वसहो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृषभः' है जिसका अर्थ बैल है। सर्व प्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से वृ को व होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष को स होने पर 'खघथधभांहः' (२-२७) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'वसहो' रूप बनता है।

४४४. वहिरो—

इसकी मूल प्रकृति 'वधिरः' है जिसका अर्थ बहरा है। सर्व प्रथम 'खघथधभांहः' (२-२७) से ध को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४४५. बहुमुहं, बहूमुहं—

ये शब्द 'बहुमुखः' से बने हैं। सर्व प्रथम 'खघथधभां हः' (२-२७) स ख को ह होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषावहुलम्' (४-३) से विकल्प से

ह्रस्व होने पर 'सोर्विन्दुनपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४४६. बहू—

यह 'वधू' से बना है 'खघथधभां हः' (२-२७ से ध को ह होने पर यह प्रयोग बनता है। द्वितीया के बहु बचन में शस् प्रत्यय के लगने पर वधू+शस् ऐसा होने पर पूर्ववत् ध को ह होने पर 'जस्शसोर्लोपः' (५-८) से शस् का लोप होने पर 'स्त्रियांशस उदोतौ' (५-१९) से उत् तथा ओत् होने पर 'बहुउ' तथा 'बहूओ' रूप बनते है। द्वितीया के एक वचन में वधू+अम् होने पर पूर्ववत् ध को ह होने पर 'अमिह्रस्वः' (५-२१) से ह्रस्व होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषाबहुलम्' (४-१) से अम् के अ का लोप होने पर 'मो बिन्दुः' (४(१२) से म् को बिन्दु होने प 'बहुं' रूप बनता है। तृतीया के बहुबचन में वधू + भिस् में बधू का पूर्ववत् वहू बनने पर 'शेषोऽदन्तवद्' (६-६०) से भिस् को हिं होने पर 'बहूहिं' रूप बनता है।

४४७. वाचा

इसकी मूल प्रकृति 'वाक्' है। 'स्त्रियामात्' (४-७) से च् को आ होने पर यह रूप बनता है।

४४८. वावडणं, वाअवडणं

इनकी मूल प्रकृति 'पादपतनम्' है। सर्व प्रथम 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का भी विकल्प से लोप होने पर 'पाद' में केवल 'वा' शेष रहा तब पतनम् के प को भी 'पोवः' (२-१५) से व होने पर 'शवलपत्योर्डः' (८-५१) से त को ड होने पर नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसकेः' (५-३०) से बिन्दु होने पर 'वावडणं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में अ का लोप नहीं होता वहां 'वाअवडणं' यह रूप बनता है।

४४९. वाऊ

इसकी मूल प्रकृति 'वायुः' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-१) से य् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से उ को दीर्घ होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से सु का लोप होने पर 'वाऊ' यह रूप बनता है। इसके अन्य कारको के रूप कारक प्रकरण में देखने चाहियें।

४५०. वारह

यह शब्द "द्वादश' से बना है जिसका अर्थ १२ है। प्रथम द् का **'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्'** (३-१) से लोप होने पर **'संख्यायाञ्च'** (२-१४) से र होने पर **'दशादिषुहः'** (२-४४) से श को ह होने पर यह प्रयोग बनता है।

४५१. वावडो

इसकी मूल प्रकृति **'व्यापृतः'** है। सर्व प्रथम **'अधोमनयाम्'** (३-२) से प् का लोप होने पर 'पृ' के ऋ को **'ऋतोऽत्'** (१-२) से अ होने पर **'पोव'**: (२-१५) से प को व होने पर **'व्यापृतेडः'** (१२-४) से त को ड होने पर **'अत ओत् सोः'** (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४५२. विअड्डी

इसकी मूल प्रकृति 'वितर्दिः है जिसका अर्थ **'वेदी'** है। **'कग चजतदपयवां प्रायो लोपः** (२-२) से त का लोप होने पर **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) से र् का भी लोप हुआ। **'गर्दभसंमर्द वितर्दि विच्छर्दिषुर्दस्य'** (३-२६) से त को ड होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ड को द्वित्व होने पर **'सुभिस्सुप्सुदीर्घः'** (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४५३. विछड्डी

इसकी मूल प्रकृति **'विच्छर्दि'** है। **'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः'** (२-२) से च् का लोप होने पर **'सर्वत्र लवराम्'** (३-३) से र् का लोप होने पर **'गर्दभ संमर्द वितर्दि विच्छर्दिषु र्दस्य'** (३-२६) से त को ड होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ड को द्वित्व होने पर **'सुभिस्सुप्सुदीर्घः'** (५-१८) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

४५४. विअणा, वेअणा

इन दोनों की मूल प्रकृति **'वेदना'** है। सर्वप्रथम **'एतइद्वेदनादेवरयोः'** (१-३४) से ए को **'इ'** होने पर **'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः'** (२-२) से द् का लोप होने पर **'णोणः सर्वत्र'** (२-४२) से न् को ण होने पर **'विअणा'** रूप बनता है पर ए को इ विकल्प से होता है अतः पक्ष में ए ही रहने पर और सब कार्य पूर्ववत् होने पर 'वेअणा' यह रूप भी होता है।

४५५. विअणो

यह शब्द 'व्यजनम्' से बना है जिसका अर्थ पंखा है। सर्व प्रथम **'इदीदत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाऽङ्गारेषु'** (१-३) से आदि के अ

के स्थान पर इ होने पर तथा 'अधोमनयाम्' (१-२) से य् का लोप होनें पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से ज् का भी लोप होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होकर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'अ' हुआ और यह प्रयोग बना।

४५६. विआणं—

इसकी मूल प्रकृति 'वितानम्' है जिसका अर्थ चंदवा या चांदनी (जो ऊपर तानी जाती है) है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-४२) से न् का लोप होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४५७. विआरल्लो—

इसकी प्रकृति 'विकार वत्' है। सर्व प्रथम 'आल्विल्लोल्लालवन्तेन्तामतुपः' (४-२५) से वत् के अर्थ में 'इल्ल' आदेश होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-३) से क का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर यह रूप बनता है।

४५८. विइण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'वितृष्णः' है। 'इदृष्यादिषु' (१-२८) से तृ की ऋ को इ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-३) से त् का का लोप होने पर 'ह्रस्नष्णक्ष्णश्नांण्हः' (२-३६) से ष्ण के स्थान पर 'ण्ह' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४५९. विउदं—

इसकी मूल प्रकृति 'विवृतः' है। सर्व प्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से वृ के ऋ को उ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से व का लोप होने पर 'ऋत्वादिषुतोदः' (१-७) से त को द होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४६०. विउलं—

इसकी प्रकृति 'विपुलम्' है जिसका अर्थ बहुत है। 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से प का लोप होने पर 'सो विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४६१. विंहिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'वृंहितम्' है जिसका अर्थ बढ़ाना या विस्तार करना है। सर्व प्रथम 'इदृष्यादिषु' (१-२८) से वृ की ऋ को इ होने पर 'क ग च ज

त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

४६२. विक्कवो—

इसकी मूल प्रकृति 'विक्लवः' है जिसका अर्थ व्याकुल है। सर्व प्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से ल् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ (३-५०) से क को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है। 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से व का लोप प्राप्त था पर सूत्र में 'प्रायः' होने से कहीं होता है और कहीं नहीं होता अतः यहां नहीं हुआ।

४६३ विज्जा—

इसकी मूल प्रकृति 'विद्या' है। 'त्यथ्यद्यां च छ जाः' (३-२७) से द्य को ज होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

४६४. वेज्जो—

इसकी मूल प्रकृति 'वैद्यः' है। सर्वप्रथम 'त्यथ्यद्यां च छ जाः' (३-२७) से द्य को ज होने पर और शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर 'ऐत्एत्' (१-३५) से ऐ को ए होने पर 'वेज्जो' रूप बनता है।

४६५. विज्जू विज्जुली—

इनकी प्रकृति 'विद्युत्' है जिसका अर्थ बिजली है। सर्व प्रथम 'त्यथ्यद्य१ च छ जाः' (३-२७) से द्य को ज् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर 'विज्जू' बनता है। इसमें 'स्त्रियामात्' (४-७) से आ प्राप्त था पर 'नविद्युति' (१-९) से निषेध होने पर नहीं होता। पक्ष में 'विद्युत् पीताभ्यां वा लः' (४-२६) से ल होने पर 'संधाव-वामज्लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से ह्रस्व हो जाने पर 'इवन्तः स्त्रियाः' (हेम चन्द्र) के अनुसार इ होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) से इ को ई होने पर 'विज्जुली' रूप बनता है।

४६६. विच्छुओ विञ्छुओ—

इनकी मूल प्रकृति 'वृश्चिकः' है जिसका अर्थ 'विच्छू' है। सर्वप्रथम 'इवृव्यादिषु' (१-२८) से वृ की ऋ को इ होने पर वि बना तब' उदिक्षुवृश्चिकयोः (१-१५) से चि की इ को उ होने पर 'इवत्सप्सांछः' (३-४०) से

श्च के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'क ग च ज त द पयवांप्रायो लोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'विच्छुओ' यह बनता है। पर 'वृश्चिकेञ्छः' (३-४१) इस सूत्र से 'श्च' को 'ञ्छ' होने पर और शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'विञ्छुओ' रूप भी बनता है।

४६७. विञ्जो विण्णो—

इनकी मूल प्रकृति 'विज्ञः' है जिसका अर्थ चतुर या बुद्धिमान है। सर्वप्रथम 'ब्रह्मण्य विज्ञ यज्ञन्य कन्यकानां ण्य ज्ञन्यानांञ्जोवा' (१२-७) से ज्ञ के स्थान पर 'ञ्ज' होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'विञ्जो' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ञ्ज नहीं होता वहां 'म्नज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषुणः' (३-४४) से ज्ञ को ण् होने पर 'शेषादेशयोद्वित्वमनादौ' (३-५०) से ण् को द्वित्व होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४६८. विञ्जातो—

यह शब्द 'विज्ञातः' से बना है 'ज्ञस्यञ्जः' (१०-६) से ज्ञ के स्थान पर 'ञ्ज' होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बना है।

४६९. विंझो विम्झो—

इन दोनों की मूल प्रकृति 'विन्ध्यः' है। सर्वप्रथम 'ध्यह्योर्झः' (३-२८) से ध्य को झ होने पर 'नओर्हलि' ४-१४) से विकल्प से बिन्दु (ं) होता है और जहां बिन्दु नहीं होता वहां म् हो जाता है। दोनों में 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर दोनों रूप बनते हैं।

४७०. विडवो—

इसकी मूल प्रकृति 'विटपः' है जिसका अर्थ पेड़ है सर्वप्रथम 'टोडः' (२-२०) से ट को ड होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४७१. विण्णाणं—

इसकी मूल प्रकृति 'विज्ञानम्' है। सर्वप्रथम 'म्नज्ञपञ्चाशत्पञ्चदशेषुणः' (३-४४) से ज्ञ' को 'ण' होने पर 'शेषादेशयोद्वित्वमनादौ (३-५०) से ण् को द्वित्व होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को भी ण होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके (५-३०) से बिन्दु होंने पर यह प्रयोग बनता है।

४७२. वेण्हू विण्हू—

इनकी मूल प्रकृति 'विष्णुः' है। सर्वप्रथम 'ह्नस्नष्णक्ष्णह्नांण्हः' (३-३३) से 'ष्ण' के स्थान पर 'ण्ह' होने पर 'इत् एत् पिण्ड समेषु' (१-१२) से विकल्प से इ को ए होने पर दोनों में 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर दोनों रूप बनते हैं।

४७३. विप्फरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'विस्पर्शः' है। सर्वप्रथम 'स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य' (३-३६) इस सूत्र से 'स्प' को फ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व फ को प् होने पर 'इः श्री ही क्रीत क्लान्त क्लेशम्लान स्वप्नस्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३-६२) से युक्त वर्ण र्श को विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होता है और 'इ' भी होता है अतः र् को रि होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७४. विब्भलो, विहलो, भिब्भलो—

इनकी मूल प्रकृति 'विह्वलः' है जिसका अर्थ व्याकुल है। सर्वप्रथम 'विह्वलेभहौवा' (३-४७) से 'ह्व' के स्थान पर भ तथा ह होते हैं। जिस पक्ष में भ होता है वहां भ को 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व भ को ब् होने पर अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'विब्भलो' रूप बनता है पर जिस पक्ष में ह होता है वहां 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'विहलो' यह रूप होता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'भिब्भलो' रूप बनता है। 'वा विह्वले वौवश्च' (हेमचन्द्र) से ह्व को भ होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर वि को भी भ हो जाता है और यह प्रयोग बनता है।

४७५. विलाशे—

इसकी मूल प्रकृति 'विलासः' है। 'षसोशः' (११-३) से स् के स्थान पर श् होता है और 'अत इदेतोलुक्च' (११-१०) से ए होने पर 'सु' का लोप भी हो जाता है।

४७६. विसं—

इसकी मूल प्रकृति 'विषम्' है। 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स होने पर 'सोनिन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु (ं) होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७७. भिसिणी—

इसकी मूल प्रकृति 'विसिनी' है जिसका अर्थ कमल का पत्ता है। 'विसिन्यांभ.' (२-३८) से व को भ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण् होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७८. विसी—

इसकी मूल प्रकृति 'वृषी' है जिसका अर्थ व्रती लोगों के बैठने का आसन है। सर्वप्रथम 'इदृष्यादिषु' (१-२२) से ऋ को इ होने पर 'वि' हुआ तब 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स् होने पर यह प्रयोग बना।

४७९. विस्सासो, वीसासो—

इनकी मूल प्रकृति 'विश्वासः' है। 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'सेवादिषुश्च' (३-५८) से स को विकल्प से द्वित्व होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) अथवा 'ह्रस्वः संयोगे' हेमचन्द्र के अनुसार ह्रस्व होने पर विस्सासो रूप बनता है वैसे 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१८) से दीर्घ होता है।

४८०. वीरिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'वीर्यम्' है। 'चौर्यसमेषुरिअं' (३-२०) से र्यं को रिअं होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८१. वीसत्थो—

इसकी मूल प्रकृति 'विश्वस्तः' है। 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१-१७) से वि को वी होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से व् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'स्तस्थथः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ को त् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८२. वीसंभो—

इसकी मूल प्रकृति 'विश्रम्भः' है जिसका अर्थ विश्वास है। सर्वप्रथम 'ईत् सिंह जिह्वयोश्च' (१-१७) से वि को वी होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'यथि तद्वर्गान्तः' (४-१७) से म् को विन्दु होने पर अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४८३. विम्हओ—

इसकी मूल प्रकृति 'विस्मयः' है जिसका अर्थ आश्चर्य है। सर्वप्रथम 'स्मपक्ष्मविस्मयेषुम्हः' (३-३२) से 'स्म' को 'म्ह' होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८४. वुत्तंतो—

इसकी मूल प्रकृति 'वृत्तान्तः' है जिसका अर्थ हाल या समाचार है। सर्वप्रथम 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से वृ के ऋ को उ होने पर 'उपरिलोपः कगडतदप षसाम्' (३-१) से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से शेष त को द्वित्व होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से आ को अ होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१७) से न् को विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८५. वुन्दावणं—

यह शब्द 'वृन्दावनम्' से बना है। 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से वृ की ऋ को उ होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१७) से न् को विन्दु होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८६. वेडिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'वेतस.' है। सर्वप्रथम 'इदीषत् पक्कस्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाऽङ्गारेषु' (१-३) से त् के अ को इ होने पर 'प्रतिस वेत स पताकासुडः' (२-८) से त को ड होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

४८७. वेलुरिअं—

संस्कृत में 'वैदूर्य' एक प्रकार का रत्न है उसको ही प्राकृत में 'वेलुरिअं' कहते हैं। 'दाढादयो बहुलम्' (४-३३) से यह शब्द निपात है।

४८८. वेल्ली—

इसकी मूल प्रकृति 'वल्लिः' है जिसका अर्थ बेल या लता है। सर्वप्रथम 'एशय्यादिषु' (१-५) से अ को ए होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से ल का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ल को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८९. बोरं—

इसकी प्रकृति 'बदरम्' है जिसका अर्थ बेर है। 'ओबदरे देन' (१-६) से द् तथा अ को ओ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

४९०. व्रदं, वंदं—

इनकी मूल प्रकृति 'वृन्दम्' है जिसका अर्थ झुण्ड या समूह है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ के स्थान पर अ होने पर 'व' यह रूप हुआ तब 'वृन्दे वोरः' (४-२७ से व के आगे विकल्प से र् होने पर व्र हुआ 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१७) से न् को विन्दु होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर व्रदं बनता है और जिस पक्ष में र् नहीं होता वहां 'वदं' बनता है।

४९१. शिआला, शिआलका—

इनकी मूल प्रकृति 'शृगालः' है जिसका अर्थ गीदड़ है। 'शृगाल शब्द-स्यशिआला शिआलिका' (११-१७) से शिआला तथा शिआलका आदेश होने से दोनों रूप बनते हैं।

४९२. सढा—

इसकी मूल प्रकृति सटा' है जिसका अर्थ जटा होता है। 'सटाशकट कैटेभषुढः' (२-२१) से ट के स्थान पर ढ होने पर वह प्रयोग बनता है।

४९३. सअढो—

यह शब्द 'शकटः' से बना है जिसका अर्थ गाड़ी है। 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'सटा शकट कैटेभषुढः' (२-२१) से ट को ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'सअढो' रूप बनता है।

४९४. सअहुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'शत कृत्वः' है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'क ग च ज त द पवर्वां प्रायोलोपः (२-२) से त् का लोप होने पर 'कृत्वसो हुत्तमित्यन्ये देशी शब्दः स इष्यते' (४-२५) इस प्रक्रिया से कृत्वः के स्थान पर 'हुत्तम्' यह प्रत्यय हो जाता है और 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९५. सहस्सहुत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'सहस्त्र कृत्वः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप

होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से स् को द्वित्व होने पर 'कृत्वसो हुत्तमित्यन्ये देशी शब्दः सइच्यते (४-२५) से 'कृत्वः' के स्थान पर 'हुत्तम्' यह प्रत्यय होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९६. सइ, सआ—

ये दोनों प्रयोग 'सदा' से बने हैं। 'इत्सदादिषु (१-११) से आ को इ विकल्प से होता है जिस पक्ष में इ होता है वहां 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'सइ' यह बनता है और जहां इ नहीं होता वहां पूर्ववत् द् का लोप होने पर 'सआ' यही प्रयोग बनता है।

४९७. सइरं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्वैरं' है जिसका अर्थ इच्छानुसार कार्य करना है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से व् का लोप होने पर 'दैत्यादिष्वइ' (१-३६) से ऐ को अ इ होने पर 'सोयिन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९८. संवत्तओ—

इसकी मूल प्रकृति 'संवर्तकः' है। सर्वप्रथम 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोद्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९९. संबुदी—

इसकी प्रकृति 'संवृति' है। 'उदृत्वादिषु' (१-२९) से वृ के ऋ को उ होने पर 'ऋत्वादिषुतोदः' (२-७) से त् को द् होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५००. सुइदी—

इसकी मूल प्रकृति 'सुकृति' है जिसका अर्थ पुण्यात्मा है। 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'इदृष्यादिषु' (१-२८) से वृ की ऋ को इ होने पर 'ऋत्वादिषुतोदः (२-७) से त् को द् होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०१. संकन्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'संक्रान्तः' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) से आ को अ होने पर

'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से सम् के म् को बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५०२. संझा—

इसकी प्रकृति 'संध्या' है। 'ध्यह्योर्झः' (३-२२) से ध्य के स्थान पर 'झ' होने पर सम् के म् को 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१) से बिन्दु (ं) होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०३. संका सङ्का—

यह शब्द 'शङ्का' से बना है। 'शषोः सः' (२-४३) से श को स् होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बना है। विन्दु विकल्प से होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

५०४. संखो सङ्खो—

इनकी प्रकृति 'शङ्खः' है। 'शषोः सः' (२-३) से श् को स् होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१) से विकल्प से बिन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५०५. सण्ढो संढो—

इनकी मूल प्रकृति 'षण्ढः' है जिसका अर्थ नपुंसक है। 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स् होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१) से विकल्प से बिन्दु होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५०६. संपत्ती—

इसकी मूल प्रकृति 'सम्पत्तिः' है। 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से बिंदु होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः (५-१२) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०७. सक्को—

इसकी मूल प्रकृति 'शक्रः' है जिसका अर्थ इन्द्र है 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से द् का लोप होने पर 'शेषादेश यो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०८. संगामो—

इसकी मूल प्रकृति 'संग्रामः' है जिसका अर्थ युद्ध है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ग् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०९. सरफसं—

इसकी मूल प्रकृति 'सरभसं' है। जिसका अर्थ 'जल्दी' या 'शीघ्रता से' है। 'वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ' (१०-३) से वर्ग के चौथे भ को उसी वर्ग का दूसरा फ होने से 'सोविन्दुर्नपुंसके (५-५०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१०. सलफो—

इसकी मूल प्रकृति 'शलभः' है जिसका अर्थ पतङ्ग या कीड़ा है। 'शषोः सः' (२४३) से श् को स् होने पर 'वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्यो राद्यौ' (१०-३) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग होता है।

५११. सचावं—

इसकी मूल प्रकृति 'सचापम्' है जिसका अर्थ धनुष के सहित है। 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से प का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१२. सज्जो—

इसकी मूल प्रकृति 'षड्जः' है यह एक स्वर का नाम है। 'शषोः सः (२-४३) से ष को स होने पर 'उपरि लोपः क ग ड त द पषसाम्' (३-१) से ड् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से आ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१३. सित्थओ—

इसकी मूल प्रकृति 'सिक्थकम्' है जिसका अर्थ मोम या मधुच्छिष्ट है। सर्वप्रथम पहले क् का 'उपरि लोपः क ग ड त द प श साम्' (३-१) से लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से थ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ को त् होने पर दूसरे क् का 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से लोप होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१४. सिणिद्धो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्निग्धः' है जिसका अर्थ चिकना है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४३) से न् को ण् होने पर 'विप्रकर्षः' (३-५९) से 'स्नि' को जो युक्त वर्ण है विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होती है और पूर्व स्वरता होने से 'सिणि' यह रूप बनता है। 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) से ग् का लोप होने पर

'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ध् को द् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५१५. सुत्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'सुप्तः' है जिसका अर्थ सोया हुआ है। 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) से प् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५१) से त् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१६. खलिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्खलितम्' है जिसका अर्थ अपराध या त्रुटि है। 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम' (३-१) से स् क का लोप होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५१७. संजदो—

इसकी मूल प्रकृति 'संयतः' है। 'ऋत्वादिषुः तोदः' (१-७) से त को द होने पर 'आदेर्यो जः' (२-३१) से य को ज होने पर 'यथितद्वगन्तिः' (४-१७) से विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५१८. संठविअं, संठाविअं—

इनकी मूल प्रकृति 'संस्थापितम्' है। सर्व प्रथम 'ठाशागाश्च वर्तमान भविष्यद् विध्यादेष्वचनेषु' (८-२६) से स्था के स्थान पर ठा होने पर 'यथितद्वगन्तः' (४-१७) से विन्दु होने पर 'पोवः' (२-१५) से प् को व होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर तथा 'अदातो यथादिषु वा' (१-१०) से ठा के आ को विकल्प से अ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु हो जाने पर संठविअं' तथा 'संठाविअं' ये रूप बनते हैं।

५१९. सण्णा—

इसकी मूल प्रकृति 'संज्ञा' है जिसका अर्थ संकेत या नाम होता है। सर्व प्रथम 'ज्ञनपञ्चाशत्पञ्चदशेषुणः (३-१४) से ज्ञ को ण् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ण् को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

५२०. सण्हं—

इसकी मूल प्रकृति 'श्लक्ष्ण' है जिसका अर्थ चिकना है। 'शषोः सः' (२-४) से श् को स् होने पर 'ह्लस्नक्ष्णश्नांण्हः' (३-३३) से क्ष्ण को ण्ह- होने पर सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से श् को विप्रकर्ष होने पर ल को भी अ होता है और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५२१. सद्दालो—

इसकी मूल प्रकृति 'शब्दवत्' है। 'शषोः सः' (२-४२) से श को स् होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से व् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'आल्विल्लोल्लालवन्तेन्तामतुपः' (४-२५) से वत् के स्थान पर 'आल' होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५२२. सद्दो—

इसकी मूल प्रकृति 'शब्दः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से ब का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५२३. सनानम्—

इसकी मूल प्रकृति 'स्नानम्' है। सर्वप्रथम 'स्नस्य सनः' (१०-७) से स्न को सन होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५२४. सनेहो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्नेहः' है। 'स्नस्य सनः' (१०-७) से स्न को सन होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५२५. सप्फं.

इसकी मूल प्रकृति 'शष्पम्' है जिसका अर्थ घास या तृण है। 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'ष्पस्यफः' (३-३५) से ष्प को फ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से फ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व फ को प होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५२६. सब्भावं—

इसकी मूल प्रकृति 'सद्भावम्' है। सर्व प्रथम 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से भ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व भ को ब् होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके: (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५२७. सभरी—

इसकी मूल प्रकृति 'शफरी' है जिसका अर्थ मछली है। 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'फोभः' (०-२६) से फ को भ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५२८. सिभा—

इसकी मूल प्रकृति शिफा' है जिसका अर्थ पेड़ की जड़ है 'शषो सः' (२-४३) से श को स होने पर 'फोभः' (२-२६) से फ को भ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५२९. सेभालिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'शेफालिका' है जिसका अर्थ निर्गुन्डी नाम की लता है। 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'फोभः' (२-२६) से फ को भ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-३) से क का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३०. सभलं—

इसकी मूल प्रकृति 'सफलं' है। 'फोभः' (२-२६) से फ को भ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु हो नेपर यह प्रयोग बनता है।

५३१. सावो—

इसकी मूल प्रकृति 'शापः' है। 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'अतओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३२. सवहो—

इसकी मूल प्रकृति 'शपथः' है। 'शसोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'खघथधभांहः' (२-२७) से थ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३३. समत्थो—

इसकी मूल प्रकृति 'समस्तः' है। 'स्तस्य थः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ को त् होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३४. समिद्धी, सामिद्धी—

इनकी मूल प्रकृति 'समृद्धि' है जिसका अर्थ ऐश्वर्य है। सर्व प्रथम 'इदृत्यादिषु' (१-२८) से ऋ को इ होने पर 'उपरि लोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ध को द् होने पर 'आसम्द्ध्यादि षु' (१-२) से स के अ को विकल्प से आ होने पर तथा 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१२) से अन्त्य इ को दीर्घ होने पर 'अन्त्यस्य हलः' (४-६) से सु का लोप होने पर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

५३५. संपदि—

इसकी मूल प्रकृति 'सम्प्रति' है जिसका अर्थ वर्तमान या इस समय है। 'मोविन्दुः' (४-१०) से म् को विन्दु होने पर सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'ऋत्यादिषुतोदः' (२-७) से त को द होने पर 'संपदि' यह रूप बनता है।

५३६. संमड्डो—

इसकी मूल प्रकृति 'सम्मर्दः' है जिसका अर्थ झुण्ड या भीड़ है। 'यथि तद्वर्गान्तः' (४-१७) से म् को विन्दु होने पर 'सर्वत्र लवरा र्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'गर्दभ संमर्द वितर्दिविच्छर्दिषुर्दस्य' (३-२६) से द को ड होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ड को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५३७. सरदो—

इसकी मूल प्रकृति 'शरत्' है। 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'शरदोदः' (४-१०) से त् को द होने पर 'नसान्त प्राव्ट् शरदः पुंसि' (४-१८) से पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५३८. सररुहं, सरोरुहं—

इनकी मूल प्रकृति 'सरोरुहम्' है जिसका अर्थ कमल है। 'अन्त्यहलः' (६-६) से सरस् के स् का लोप होने पर 'सन्धा वचामज् लोप विशेषा

बहुलम्' (४-१) से विकल्प से ओ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

५३९. सरिआ—

यह शब्द 'सरित्' से बना है। जिसका अर्थ नदी है। 'स्त्रियामात्' (४-७) से त् को आ होने पर यह रूप बनता है।

५४०. सरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'सदृशः' है जिसका अर्थ समान या तुल्य है। 'क्वचिल्लुक्स्यापि' (१-३१) से ऋ को रि होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५४१. सरो—

इसकी प्रकृति 'सरस्' है जिसका अर्थ तालाब है। 'अन्त्य हलः' (४-६) से स् का लोप होने पर 'नसान्त प्रावृट् सरदः पुंसि' (४-१८) से पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५४२. सलाहा—

इसकी मूल प्रकृति 'श्लाघा' है जिसका अर्थ प्रशंसा है। 'आक्ष्माश्लाघयोः (३-६३) से युक्त वर्ण का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होती है और पूर्व को अकार तथा तत्स्वरता भी होती है। 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'खघथधभां हः' (२-२७) से घ को ह होने पर यह रूप बनता है।

५४३. सवोमुओ, सवोमूओ—

इनकी मूल प्रकृति सर्वमुखः अथवा सर्पमुखः है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'सन्धावचामज् लोपविशेषाबहुलम्' (४-१) से ओ होने पर और विकल्प से अ होने पर 'खघथधभांहः' से ख को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

५४४. सव्वण्णो—

इसकी मूल प्रकृति 'सर्वज्ञः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'सर्वज्ञेङ्ग तज्ञ योर्णः' (१२-२) से ज्ञ को ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व तथा ण् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सो.' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५४५. सारंगो—

इसकी मूल प्रकृति 'शार्ङ्गः' है जिसका अर्थ कृष्ण है। 'क्लिष्टश्लिष्ट रत्न क्रियाशार्ङ्गेषु तत्स्वरवत् पूर्वस्य' (३-६०) से संयुक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व वर्ण की तत्स्वरता होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'यथितद्वर्गान्तः (४-१७) से विन्दु होने पर 'अत 'ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५४६. सिट्ठी—

इसकी मूल प्रकृति 'सृष्टिः' है। सर्वप्रथम 'इ दृष्यादिषु' (१-२८) से ऋ को इ होने पर 'ष्टस्यठः' (३-१०) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ (३-५०) से ठ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ठ् को ट् होने पर 'सुभिरसुप्सुर्दीर्घः' से (५-१८ दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

५४७. सिढिलो—

इसकी मूल प्रकृति 'शिथिलः' है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) से श को स् होने पर 'प्रथम शिथिलनिषधेषुढः' (२-२८) से थ को ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'सिढिलो' यह रूप बनता है।

५४८. सिण्हो—

इसकी मूल प्रकृति 'शिश्न' है। 'शषोः षः' (२-४३) इस सूत्र से श को स होने पर 'ह्न स्नष्णक्ष्णश्नांण्हः' (३-३३) से श्न को ण्ह होने पर 'अत ओत सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५४९. सेंदूरं, सिंदूरं—

इसकी मूल प्रकृति 'सिन्दूरं' है। सर्वप्रथम 'इतएत् पिण्ड समेषु' (१-१२) से इ को विकल्प से ए होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४१७) से विन्दु होने पर 'सोबिन्दुर्नपुसंके' (५-३०) से अन्त में विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५५०. सिंधवं—

इसकी मूल प्रकृति 'सैन्धवम्' है। सर्वप्रथम 'इत् सैन्धवे' (१-३८) से ऐ को इ होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से विन्दु होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से अन्त में विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५१. सिरं—

इसकी मूल प्रकृति 'शिरः' है। 'शषोः सः' (२-४१) से श को स होने पर 'अन्त्यहल.' (४-६) से शिरस् के स का लोप होने पर 'नसान्त प्रावृट् शरदः

पुंसि' (४-१८) से पुल्लिंग प्राप्त था पर 'नशिरो नभसी' (४-१९) से नपुंसक लिंग ही होता है और 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५२. सिरी—

इसकी मूल प्रकृति 'श्रीः' है जिसका अर्थ लक्ष्मी है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेशम्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्हे गर्हेषु' (३-६२) से युक्त वर्ण को विप्रकर्ष होने पर और इ होने पर यह रूप बनता है।

५५३. सिलिट्ठं—

इसकी मूल प्रकृति 'श्लिष्टम्' है जिसका अर्थ मिला हुआ है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'क्लिष्ट श्लिष्ट रत्न क्रिया शाङ्क्षेषुतत्स्वरवत्-पूर्वस्य' (३-६०) से 'श्लि' को विप्रकर्ष होने पर तथा पूर्व स्वरता होने पर सिलि रूप बनता है। फिर 'ष्टस्यठः' (३ १०) से ष्ट को ठ होने पर 'शेषा-देशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ठ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युज पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ठ को ट् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ हो जाने पर यह प्रयोग बनता है।

५५४. सिविणो—

इसकी मूल प्रकृति 'स्वप्नः' है। सर्वप्रथम 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाङ्गारेषु' (१-२) से स्व, के अ को इ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से व् का लोप होने पर 'सि' बनता है। तब 'पोवः' (२-१५)से प् को व् होने पर 'इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्शहर्षार्हे गर्हेषु' (३-६३) से इ तथा पूर्व स्वरता होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५५. सीभरो—

इसकी मूल प्रकृति 'शीकरः' है जिसका अर्थ कण या छोटी छोटी बूंदें है 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'शीकरेभः' (२-५) से क को भ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५५६. सीहो—

इसकी मूल प्रकृति 'सिंहः' है। 'ईत् सिंह जिह्मयोश्च' (१-१७) से इ को ई होने पर 'सन्धाव चामज् लोपविशेषाः बहुलम्' (४-१) से अनुस्वार का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से 'ओ' होने पर 'सीहो' प्रयोग बनता है।

५५७. सुउरिसो, सुपुरिसो—

इनकी मूल प्रकृति 'सुपुरुषः' हैं। सर्वप्रथम 'इत्पुरुषेरोः' (१-२३) से रु के उ को इ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स् होने पर 'क ग च ज त द प यवां प्रायो लोपः' (२-२) से प् का लोप प्रायः होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर ये दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं।

५५८. सूरो, सुज्जो—

इनकी मूल प्रकृति 'सूर्यः' है। 'सूर्येवा' (३-१९) इस सूत्र स र्य को विकल्प स र होने पर जिस पक्ष में र होता है वहां 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है, पर जिस पक्ष में र नहीं होता वहां 'सन्धाव चा मज् लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) स ऊ को उ होने पर 'र्यशय्याभिमन्युषुजः' (३-१७) से र्य को ज होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'सुज्जो' प्रयोग बनता है।

५५९. सुण्डो—

इसकी मूल प्रकृति 'शुण्डः' या शौण्डः है। शुण्डः का अर्थ सूंड़ है और शौण्डः का अर्थ शराब पीने वाला है। सर्वप्रथम 'शषोसः' (२-४३) से श को स होने पर 'यथितद् वर्गान्तः' (४-१) से न् को ण् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होकर यह रूप बनता है। शौण्डः में 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१-४४) से औ को उ होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होता।

५६०. सुन्देरं—

इसकी मूल प्रकृति 'सौन्दर्यम्' है। सर्वप्रथम 'उत्सौन्दर्यादिषु' (१-४४) से औ को 'उ' होने पर 'ए शय्यादिषु' (१-५) से द के अ को ए होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से न को विन्दु होने पर 'तूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्य पर्यन्तेषुरः' (३-१८) से र्य को र होने पर 'सोविन्दुनंपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

५६१. सुप्पणहा, सुप्पणही—

इनकी मूल प्रकृति 'शूर्पणखा' है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४२) से श् को स होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ को उ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र का लोप हुआ तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से प को द्वित्व होने पर 'णोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण् होने पर 'आंदीतौबहुलम्' (५-२४) से अन्त में विकल्प से आ और ई होने पर 'खघ थ धभां हः' (२-२७) से ख को ह होने पर ये दोनो रूप बनते हैं।

५६२. सूई—

इसकी मूल प्रकृति 'सूची' है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से च् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६३. सेलो—

इसकी मूल प्रकृति 'शैलः' है जिस का अर्थ पहाड़ है। 'शषोः सः' (२-४२) से श को स होने पर 'ऐत् एत्' (१-३५) से ऐ को ए होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६४. सेच्चं—

इसकी मूल प्रकृति 'शैत्यं' है। 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'ऐत् एत्' (१-३५) से ऐ को ए होने पर 'त्यथ्य द्यां च छ जाः' (३-१७) से त्य को च होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से च को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६५. सेज्जा—

इसकी मूल प्रकृति 'शय्या' है। 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'ए शय्यादिषु' (१-५) से अ को ए होने पर 'र्य शय्याभिमन्युषुजः' (३-१७) से 'य्य' को ज् हो ने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६६. सेव्वा, सेवा—

ये शब्द सेवा से बने हैं। 'सेवादिषु च' (३-५८) से व को विकल्प से द्वित्व होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

५६७. सोअमल्लं—

इसकी मूल प्रकृति 'सौकुमार्यम्' है। सर्वप्रथम 'औत ओत्' (१-४१) से औ को ओ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क का लोप होने पर 'अन् मुकुटादिषु' (१-२२) से उ को अ होने पर 'सन्धाव चा मज लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१) से मा के आ को अ होने पर 'पर्यस्त पर्याण सौकुमार्येषुलः' (३-२१) से र्य को ल होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ल को द्वित्व होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६८. सोत्तं—

इसकी मूल प्रकृति 'स्रोतः' है। 'सर्वत्रलवरां' (३-३) से र् का लोप होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से स् का लोप होने पर 'नीडादिषुत्र' (३-५२) से त

को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६९. सोमालो, सुउमालो—

इनकी मूल प्रकृति 'सुकुमारम्' है। सर्वप्रथम 'नवा मयूख लवण चतुर्गुण, चतुर्थ, चतुर्दश, चतुर्वार सुकुमार कुतूहलो दूखलोलूखले' (हेमचन्द्र) के अनुसार 'सुकु' के स्थान पर सो विकल्प से होता है और 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) से र को ल होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर सोमालो प्रयोग बनता है। जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर और शेषकार्य पूर्ववत् होने पर 'सुउमालो' रूप बनता है।

५७०. सोस्सं—

इसकी मूल प्रकृति 'शुष्म' और 'शुष्मा' है। शुष्म का अर्थ पराक्रम है और शुष्मा का अर्थ अग्नि है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर और ष् को भी स होने पर 'उत ओत् तुण्ड रूपेषु' (१-२०) से ओ होने पर 'अघोमनयाम्' (३-२) से म् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से स् को द्वित्व होने पर 'सोर्विदुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'सोस्सं' प्रयोग बनता है।

५७१. सोम्मो—

इसकी मूल प्रकृति 'सौम्यः' है। 'औत ओत्' (१-४१) से औ को ओ होने पर 'अघोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से म् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५७२. सोरिअं—

इसकी मूल प्रकृति शौर्यम् है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'औत ओत्' (१-४१) से औ को ओ होने पर 'चौर्यसमेषुरिअं' (३-२०) से र्य को रिअ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७३. हडक्के—

इसकी मूल प्रकृति 'हृदयम्' है। मागधी प्राकृत में यह रूप बनता है। 'हृदयस्य हडक्कः' (११-६) से हृदय को 'हडक्क' आदेश होता है। 'अतइदेतोलुक्च' (११-१०) से ए होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७४. हणुमा, हणुमन्तो—

इनकी मूल प्रकृति 'हनुमान्' है। 'णोणः सर्वत्र' (२ २२) से न् को ण होने पर 'क्वचिदामतुपोऽन्त्यस्य मन्तोवा दृश्यते क्वचित्' (वार्तिक सूत्र) से मतुप् के स्थान पर आ भी होता है और पक्ष में 'मन्त' भी होता है। यह वार्तिक 'आल्विल्लोल्लाल-वन्तेन्तामतुपः' (४-२५) इस सूत्र पर है। इससे अ होने पर हणुमा और 'मन्त' होने पर 'अतं ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'हणुमन्तो' यह रूप बनता है।

५७५. हत्थो—

इसकी मूल प्रकृति 'हस्तः' है। 'स्तस्यथः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से थ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः-पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ् को त् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५७६. हसो—

इसकी मूल प्रकृति 'ह्रस्वः' है जिसका अर्थ छोटा है। 'सर्वत्रलवरम्' (३-३) से र तथा व् का लोप होने पर 'वक्रादिषु' (४-१५) से विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७७. हरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'हर्षः' है। 'शषोः सः' (२ ४३) से ष् को स् होने पर 'हः श्री ह्रीकीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३-६२) से संयुक्त को विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होने पर तथा इ होने पर 'अत् ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५७८. हलद्दा, हलद्दी—

इनकी मूल प्रकृति 'हरिद्रा' है। जिसका अर्थ हल्दी है। 'अत्पथि हरिद्रा पृथिवीषु' (१-१३) से इ को अ होने पर 'हरिद्रादीनां रोलः' (२-३०) से र् को ल होने पर 'सर्वत्रलवरम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयो-द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'हलद्दा' रूप बनता है। पर 'आदीत्वौ बहुलम्' (५-२४) से विकल्प से आ को ई होने पर 'हलद्दी' रूप बनता है।

५७९. हलिओ, हालिओ—

इनकी मूल प्रकृति 'हालिकः' है जिसका अर्थ हल से काम करने वाला है। 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'अदातो यथा-विधवा' (१-१०) से आ को विकल्प से अ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

५८०. हविं—

इसकी मूल प्रकृति 'हविष्' है जिसका अर्थ यज्ञ में डालने वाली सामग्री है। 'अन्त्यव्यञ्जनस्य' (१-११) से ष् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८१. हसिरो—

इसकी मूल प्रकृति 'हसन शील' है। 'तृण इर. शीले' (४-२४) से 'इर' प्रत्यय होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८२. हिअअं—

इसकी मूल प्रकृति 'हृदयम्' है। महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में यह रूप बनता है। 'इदेद्यादिषु' (१-२८) से ऋ के स्थान पर इ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् और य् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८३. हिअअं—

इसकी भी मूल प्रकृति 'हृदयम्' है। पैशाची प्राकृत में यह रूप बनता है। 'हृदयस्य हितअकं' (१०-१४) से हृदय के स्थान पर 'हितअक' यह आदेश होता है।

५८४. हिरी—

इसकी मूल प्रकृति 'ह्री' है जिसका अर्थ लज्जा है। 'इः श्री ह्री कीर्त क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षाहि गर्हेषु' (३-६२) से संयुक्त को विप्रकर्ष होने पर इ होकर पूर्व स्वरता होने पर 'हिरी' रूप बनता है।

५८५. हुअं—

इसकी मूल प्रकृति 'भूतम्' है। 'क्तेहुः' (२-२) से भू को हु होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८६. वग्घो—

यह प्राकृत प्रयोग संस्कृत के व्याघ्रः का बनता है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'अघोमनयाम्' (३-२) से य् का भी लोप हुआ और 'सन्धा वचा वज्जलोप विरोपा यहुलम्' (४-१) से अ होने पर (ह्रस्व होने पर) 'शेषादेशयोर्द्वित्वकादौ' (३-५०) से घ् को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व घ को ग् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

प्राकृत भाषाओं में
सर्वनाम, निपात, कारक तथा क्रियायें

१. अ अं—

यह सर्वनाम संस्कृत के 'अयम्' का रूप है 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'मो बिन्दुः' (१-२३) से म् को बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२. अ इ—

संस्कृत के 'अयि' ! और 'अपि' के स्थान पर यह प्रयुक्त होता है। 'अइ बले संभावणे' (९-१२) से यह निपात संज्ञक है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से प् अथवा य का लोप होने पर यह प्रयोग सिद्ध हो सकता है।

३. अरे—

यह निपात है और संभाषण, रति, कलह तथा आक्षेप अर्थों में 'रे अरे हिरे संभाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९-१५) से निपात संज्ञा होती है।

४. अंकुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अंकुश' है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

५. अंसो—

इसकी मूल प्रकृति 'अंशः' है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

६. अङ्को, अंको----

इसकी प्रकृति 'अङ्क' है। 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से विकल्प से बिन्दु तथा वर्ग का अन्तिम अक्षर ङ् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७. अङ्कोल्लो----

इसकी मूल प्रकृति 'अङ्कोलः' है यह एक वृक्ष का नाम हैं। 'अङ्कोले ल्लः' (२-२५) से ल के स्थान पर ल्ल होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है। अङ्कोट शब्द से 'अंकोलो' यह प्रयोग बनता है। 'अङ्कोटेलः' इस सूत्र से ट को ल होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से विन्दु होने पर यह रूप हो जाता है।

८. अंगुली—

यह शब्द 'अङ्गुरी' से बना है। 'हरिद्रादीनांरोलः' (२-३०) से र का ल होने पर यह सिद्ध होता है।

९. अच्छ—

अस धातु से वर्तमान काल में तिङ् के योग में 'अस्तेरच्छः' (१२-१९) से अच्छ आदेश होने पर यह प्रयोग होता है।

१०. अत्थि—

इसकी मूल प्रकृति अस्ति है। 'तिपास्थि' (१२-२०) से 'स्थि' आदेश होने पर 'अत्थि' प्रयोग बनता है।

११. अच्छं—

इसकी मूल प्रकृति 'अक्ष' है। 'अक्ष्यादिषु च्छः' (३-३०) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर यह प्रयोग बनता है।

१२. अच्छीहिं—

संस्कृत के 'अक्षिभ्याम्' के अर्थ में 'अच्छीहिं' प्रयुक्त होता है। प्राकृत भाषाओं में द्विवचन के न होने से भ्याम् के अर्थ में भिस् (बहु बचन) यह विभक्ति आती है इस प्रकार अक्षि+भिस् ऐसी स्थिति में 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) से क्ष के स्थान पर छ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ को च् होने पर 'पृष्ठाक्षिप्रइनाः स्त्रियां वा' (४-२०) से स्त्रीलिंग होने पर स्त्रीलिंग में ई होने पर 'भिसोहिं' (५-५) से भिस् के स्थान पर 'हिं' यह आदेश होने पर 'अच्छीहिं' यह रूप बनता है।

१३. अणुत्तन्त, अणुवत्तन्त—

इनकी मूल प्रकृति 'अनुवर्तमान' है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'यावदादिषुवस्य'

(४-५) से व् का विकल्प से लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं मनाक्' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'न्त माणौशतृ शानचोः' (७-१०) से मान (शानच् प्रत्यय) के स्थान पर 'न्त' होने पर जिस पक्ष में व का लोप होता है वहाँ 'अणुत्तन्त' यह रूप बनता है और जहाँ व का लोप नहीं होता वहाँ 'अणुवत्तन्त' यह प्रयोग बनता है।

१४. अण्णहावअणं—

इसकी मूल प्रकृति 'अन्यथावचनम्' है। 'अधो मनयाम्' (२-२) से य् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं मनाक्' (३-५०) से ण को द्वित्व होने पर 'ख घ थ ध भां हः (२-२७) से थ को ह होने पर 'अन्यथा' का 'अण्णहा' रूप बनता है। वचनम् में 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से च् का लोप होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (२-३०) से विन्दु होने पर वअणं रूप बनता है फिर दोनों को मिलाने पर 'अण्णहावअणं' यह प्रयोग होता है।

१५. अत्तुं—

'अद् भक्षणे' इस धातु से तुमुन् प्रत्यय से 'अत्तुं' यह रूप बनता है। अद् के द का 'उपरिलोपः क ग ड तदप वसाम्' (३-१) से लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वं मनाक्' ३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'मोविन्दुः' (४-१२) से बिन्दु होने पर 'अत्तुं' बनता है।

१६. अतुलं—

यह शब्द 'अतुलम्' से बना है। 'क ग च ज तदपयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् को लोप प्राप्त था पर जहाँ श्रुति सुख (कानों को अच्छा लगना) होता है वहीं लोप होता है इसीलिये सूत्र में 'प्रायः' यह शब्द है अतः त का लोप नहीं होता और 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु हो जाने पर यह प्रयोग बनता है।

१७. अधीरो—

इसकी मूल प्रकृति 'अधीरः' है। 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) से ध को ह होना चाहिये था पर प्रायः होता है अतः ध को ह न होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१८. अपारो—

इसकी प्रकृति 'अपारः' है 'क ग च ज तदपयवां प्रायोलोपः' (२-३) से प् का लोप प्राप्त था पर 'प्रायः' होने से यहां नहीं होता और 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१९. अमू—

संस्कृत के अदस्+सुप् से यह रूप बनता है। 'अदसो दो मुः' (६-२३) से द को मु होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१२) से मु को दीर्घ होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से सुप् का भी लोप होने पर 'अमू' रूप बनता है। संस्कृत में 'असौ' रूप होता है।

२०. अवरं—

इसकी प्रकृति 'अपरम्' है। 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'मो बिन्दुः' (४-१२) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

२१. अव्वो—

संस्कृत के 'अहो' इस निपात के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'अव्वो' प्रयोग होता है। 'अव्वो दुक्ख सूचना संभावनेषु' (९-१०) से यह रूप निपतित है।

२२. असो, अम्सो—

इनकी मूल प्रकृति 'अंसः' है जिसका अर्थ कन्धा है। 'नञोहलि' (४-१४) से न् को बिन्दु तथा विकल्प से म् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२३. अह्म, अह्माणं अह्मे—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् होने पर 'अस्माकम्' रूप बनता है। इसी अस्माकम् के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'मज्झणो, अह्म, अह्माणं, अह्मो ये चार आदेश होते हैं।

२४. अह्मे—

अस्मद् शब्द से जस् (प्रथमा के बहुवचन और शस् द्वितीया के बहु-) वचन में क्रम से वयम् तथा अस्मान् रूप बनते हैं। प्राकृत भाषाओं में उनके स्थान पर 'अह्मो जस्शसोः' (६-४३) से 'अह्मे' आदेश होता है।

२५. अह्मेहिं—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से तृतीया के बहुवचन में भिस् होता है और अस्मद्+भिस् से अस्म भिः रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में 'अह्मेहिं भिसि' (६-४७) से 'अह्मेहिं' यह प्रयोग बनता है।

२६. अह्माहिंतो, अह्मासुंतो—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से भ्यस् होने पर अस्मभ्यम् रूप बनता है। उसी के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'अह्माहिंतो अह्मासुंतो भ्यसि' (६-४८) से ये दोनों रूप बनते हैं।

२७. अह्मेसु—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से सप्तमी के बहुवचन में सुप् होने पर अस्मासु रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'अह्मेसु सुपि' (६-५३) से यह प्रयोग बनता है।

२८. अवक्खइ—

संस्कृत में 'दृशिर् प्रेक्षणे' इस धातु से देखने अर्थ में पश्यति यह प्रयोग होता है। उसी का प्राकृत में 'अवक्खइ' रूप भी बनता है। 'दृशेः पुलअणि-अवक अवक्खा' (८-६९) से अवक्ख होने पर 'क्तेपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९. अवजलं—

इसकी मूल प्रकृति 'अपजल म्' है। 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'सोऽनुस्वारो वा' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से प का लोप सूत्र में प्रायः होने से नहीं होता।

३०. अवरि—

इसकी मूल प्रकृति 'उपरि' है। 'अन्मुकुटादिषु' (१-२२) से उ को अ होने पर 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर यह प्रयोग बनता है।

३१. ओवासइ, अववासइ—

ये दोनों रूप 'अवकासते' से बनते हैं। अव उपसर्ग पूर्वक कासृ धातु से संस्कृत में अवकासते बनता है। 'कासेर्वासः' (८-३५) से 'कास' को 'वास' आदेश होने पर 'तिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'अववासइ' रूप बनता है। पक्ष में 'ओदवापयोः' (४-२१) से विकल्प से अव को ओ होने पर 'ओवासइ' रूप बनता है।

३२. ओवाहइ, अववाहइ—

संस्कृत में अव उपसर्ग पूर्वक 'गाहू विलोडने' धातु से 'अवगाहते' रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में 'अवाद्गाहेर्वाहः' (८-३४) से गाह के स्थान

पर वाह होने से अव+वाह+ति होने पर 'ततिपोरिवेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'अववाहइ' रूप बनता है पर पक्ष में 'ओदवापयोः' (४-२१) से अ व को ओ होने पर 'ओवाहइ' रूप बनता है।

३३. अवहरइ

इसकी प्रकृति 'अपहरति' है। 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'ततिपोरिवेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३४. ओहासो, अवहासो—

इसकी मूल प्रकृति 'अवहासः' है। 'ओदवापयोः' (४-२१) से अव को विकल्प से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३५. अवहोवासं—

संस्कृत में 'उपपपार्श्वम्' का अर्थ दोनों ओर है उसी का प्राकृत में 'अवहोवासं' यह शब्द 'दाढादयोबहुलम्' से निपात् रूप में प्रयुक्त होता है।

३६. ओसारिअं, अवसारिअं—

संस्कृत में 'अपसारितम्' का प्रयोग दूर हटाने के अर्थ में होता है उसी अर्थ में ये दोनों प्रयोग होते है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'ओदवापयोः' (४-२१) से विकल्प से अ व को ओ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

३७. असुं, असु—

ये शब्द संस्कृत के असु से बने हैं जिनका अर्थ प्राण है। 'मांसादिष्वा' (४-१६) से विकल्प से विन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३८. अस्स—

इदम् शब्द से ङस् (षष्ठी एक वचन) में 'अस्स' रूप बनता है। सर्व प्रथम 'स्सोङसः' (५-८) से ङस् के स्थान पर स्स होता है और 'स्सस्सिमोरदवा' (६-१५) से विकल्प से इदम् को अ होने पर अस्स बनता है और जहां अ नहीं होता वहां 'इमस्स' रूप बनता है।

३९. अस्सि—

इदम् शब्द से सप्तमी के एक वचन में ङि के योग में इदम्+ङि इस अवस्था में 'ङेःस्सिम्मित्थाः' (६-२) से स्सिं होने पर 'स्सस्सिमोरदवा' (६-१५) से विकल्प से इदम को अ होने पर 'अस्सिं' रूप बनता है और जहां अ नहीं होता वहां 'इमस्सिं' रूप बनता है।

४०. अह—

संस्कृत में अदस् शब्द से सु होने पर 'असौ' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'अह' होता है। 'हश्चसौ' (६-२४) से द को ह होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर अह रूप बनता है।

४१. अमू—

अदस् शब्द से सुप् होने पर यह रूप भी बनता है। 'अदसो दो मुः' (६-२३) से द को मु होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४२. अमूओ—

अस्मद् शब्द से प्रथमा बहुवचन 'जस्' के होने पर 'अदसो दो मुः' (६-२३) से द् को मु होने पर 'जसश्चओ यूस्वम्' (५-१६) वे जस् को ओ होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

४३. अमूइ—

अदस् शब्द से जस् होने पर 'अदसो दो मुः' (६-२३) से द को 'मु' होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'इज्जश्शसोर्दीर्घश्च' (५-२६) से इ होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से स् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

४४. अहम्मि—

अस्मद् शब्द से अम् होने पर 'अहम्मिरमिच' (६-४१) से 'अहम्मि' होने पर यह रूप बनता है।

४५. अहके—

मागधी में अस्मद् शब्द से सु होने पर 'अस्मदःसौ हके हगे अहके' (११-९) से अहके होने पर यह प्रयोग बनता है।

४६. अहिमज्जू—

इसकी मूल प्रकृति अभिमन्युः' है। 'खघथधभांहः' (२-२७) से भ को ह होने पर 'र्यशय्याभिमन्युषुजः' (३-१७) से 'न्य' को ज होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ज् को द्वित्व होने पर 'सुभिस्सुप्सुदीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४७. आअच्छदि—

इसकी मूल प्रकृति 'आगच्छति' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से ग् का लोप होने पर 'अनादावुज्जोस्तयोर्दधौ' (१२-३) त को द होने पर यह प्रयोग बनता है।

४८. आअदो—

इसकी मूल प्रकृति 'आगतः' है। 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से ग् का लोप होने पर 'ऋत्वादिषु तोदः' (२-७) से त को द होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

४९. आगदे—

यह रूप भी आगतः का है। 'कृअमुङ्गमां क्रस्य डः' (११-१५) से त को ड होने पर 'अतइदेतौ चुक्चे' (११-१०) से ए होने पर यह प्रयोग बनता है।

५०. आणालखंभो, आणालक्खंभो—

इसकी मूल प्रकृति 'आलान स्तम्भः' है जिसका अर्थ बांधने का खम्भा है। सर्व प्रथम ल, न अक्षरों में परस्पर परिवर्तन हो जाता है अर्थात् न पहले होता है और ल बाद में आता है। 'आलानेलनो' (४-२९) से यह कार्य होता है। 'नोणःसर्वत्र' (३-४२) से न को ण होने पर 'स्तम्भे खः' (३-१९) 'स्त' को ख होने पर 'यथि यावद् वर्गान्तः' (४-१७) से वर्गान्त विन्दु होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) ओ होने पर आणाल खमो रूप बनता है पर 'समासे वा' (३-५७) से ख को विकल्प से द्वित्व होने पर पूर्व ख को 'वर्गेषुयुजा पूर्वः' (३-५१) से क् होने पर 'आणाल क्खंभोः' रूप बनता है।

५१. आसि, अहेसि—

संस्कृत अस् धातु से भूत काल में 'आसीत्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषा में अस् धातु से 'आस' बनता है। 'अस्तेरासिः' (७-२५) से 'आस' नियमित है। हेमचन्द्र के अनुसार 'तेनास्ते रास्य हेसीः (८-३-७६४) से 'अहेसि' यह प्रयोग भी होता है।

५२. इअ—

इसकी मूल प्रकृति इति जिसका अर्थ अन्त या समाप्ति है। 'इतेस्तः पदादेः' (१-१४) से ति की इ को अ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त का लोप होने पर यह रूप बनता है।

५३. इअरस्सि, इअरम्मि, इअरत्थ—

इतर शब्द में सप्तमी के एक वचन ङि में 'इतरस्मिन्' रूप बनता है उसी के प्राकृत भाषाओं में ये तीनों रूप बनते हैं। इतर + ङि इस अवस्था में 'ङेःस्सिम्मित्थाः' (६-२) से स्सि, म्मि तथा त्थ होने पर तीनों रूपों में

'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

५४. इमो—

इदम् + सु इस अवस्था में 'इदमइमः' (६-१४) से इदम् को इम होने पर 'सन्धावचाम्लोप विशेषाः बहुलम्' (४-१ से अ का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

५५. इमे—

इदम् + जस् इस अवस्था में 'इदम् इमः' (६-१४) से इम् होने पर 'सर्व देर्जसएत्वम्' (६-१) से ए होने पर यह प्रयोग बनता है।

५६. इमं—

इदम् + अम् से 'इदम इमः' ६-१४) से इम होने पर 'अतो मः' (५-३) से अम् के अ का लोप होने पर यह रूप बनता है। 'मोबिन्दुः' (४-१२) से बिन्दु भी होता है।

५७. इमेण—

इदम् + टा इस अस्तथा में 'इदम इमः' (६-६४) से इम होने पर एचसुप्यडिडमोः' (५-१२) से ए होने पर 'टामोणः' (५-४) से ट को ण होने पर यह प्रयोग बनता है।

५८. इमेहिं—

इदम् + भिस् इस अवस्था में 'इदमइमः' (६-१४) से इम होने पर 'एचसुप्यडिडमोः' (५-१२) से ए होने पर 'भिसोहि' (५-५) से हि होने पर यह प्रयोग बनता है।

५९. इह—

इदम् + ङि इस अवस्था में 'ङेर्देन हः' (६-१६) से इम् को ह होने पर यह रूप बनता है।

६०. इमिणा

इदम् + टा इस अवस्था में 'इदमेतद्किं यत्तद्भ्यष्टा इणा वा' (६-३) से टा को इण् होने पर 'इदमइमः' ६-१४) से इदम् को इम होने पर 'सन्धावचाम्लोप विशेषाबहुलम्' (४-१ से अ का लोप होने पर यह रूप बनता है।

६१. इदं, इणं, इणमो—

ये रूप इदम्+सु अथवा इदम् + अम् में नपुंसक लिंग में होते हैं। 'नपुंसके स्वमोरिदमिणमिणमो' (६-१८) से इदं इणं इणमो ये आदेश होते हैं।

६२. इमेसिं—

इदम् + आम् में 'इदम इमः' (६-१०) से इम होने पर 'आमएसिं' (६-४) से एसिं होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है।

६३. इसि—

इसकी मूल प्रकृति 'ईषद्' है जिसका अर्थ थोड़ा या कम है। सर्वप्रथम 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलं' (४-१) से ई को इ होने पर 'इदीषत् पक्व स्वप्न वेतस व्यजन मृदङ्गाऽङ्गारेषु' (१-३) से ष के अ को इ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष को स होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से द् का लोप होने पर यह रूप बनता है।

६४. उअ—

संस्कृत में पश्य धातु देखने के अर्थ मे है उसी को हेमचन्द्र के अनुसार विकल्प से 'उअ पश्ये' (हेमचन्द्र) के अनुसार 'उ अ' हो जाता है और यह रूप बनता है।

६५. उक्का—

इसकी मूल प्रकृति उल्का है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से ल का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर यह रूप बनता है।

६६. उक्खअं, उक्खाअं—

इनकी मूल प्रकृति 'उत्खातम्' है। सर्वप्रथम उ त् के त का 'उपरिलोपः क ग ड त द प वसाम्' (३-) से त् का लोप होने पर 'अवातो यथादिषुवा' (१-१०) से आ को विकल्प से अ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३५०) से ख को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ख को क् होने पर दूसरे त का 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से लोप होने पर 'सोविन्दुर्पुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर 'उ क्ख अं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में अ नहीं होता वहां सब कार्य पूर्ववत् होने पर 'उ क् ख आं' रूप बनता है।

६७. उच्छित्तो—

इसकी मूल प्रकृति उत्क्षिप्तः' है। सर्वप्रथम 'उपरिलोप क ग ड त द प यसाम्' (३-१) से पहले त् तथा प् का लोप होने पर 'अक्ष्यादिषुच्छः' (३-३०) से क्ष को छ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से छ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व छ् को च् होने पर अन्तिम त को भी 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से द्वित्व होने पर अत ओत् सोः' ५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

६८. उद्धुमाई—

इसकी मूल प्रकृति 'उद्धमति' है जिसका अर्थ आग को फूंकना या जलाना है। सर्वप्रथम 'उद्धम उद्धुमा' (८-३२) से उद् उपसर्ग पूर्वक ध्मा धातु को 'उद्धुमा' होने पर ति प्रत्यय के योग में 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

६९. उब्भवइ—

इसकी मूल प्रकृति 'उद्भवति' है। सर्वप्रथम 'प्रादेर्भवः' (८-३) से भुव् को भव होने पर 'उपरिलोपः कगडतदप यसाम् (३-१) से द् का लोप होने पर 'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ' (३-५०) से भ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१ से पूर्व भ को ब् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७०. उलवो—

इसकी मूल प्रकृति 'उलपः' है जिसका अर्थ लम्बी चौड़ी लता है। 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७१. उव्विवइ—

इसकी मूल प्रकृति 'उद्विजते' है। सर्वप्रथम उ त् के त् का लोप 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' २-२) से होने पर 'उदोविजः' (८-४३ से ज् को व होने पर पूर्व व को 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७२. उव्वेल्लइ—

इसकी मूल प्रकृति 'उद्वेल्लते' है। सर्वप्रथम 'उपरिलोपः क ग ड त द प यसाम्' से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व को द्वित्व होने पर 'उत्समोर्लः' (८-४१, से ल्ल को ल होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व

मनादौ' (३-५०) से ल को भी द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७३. उवसग्गो—

इसकी मूल प्रकृति 'उपसर्गः' है। 'पोवः' (२-१५) से प को व होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ग को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

७४. एअं, एव्वं—

इसकी मूल प्रकृति 'एवम्' है। 'यावदादिषुवस्य' (४-५) से व् का लोप विकल्प से होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है। पर जिस पक्ष में व् का लोप नहीं होता वहां 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व को द्वित्व होने पर पूर्ववत् बिन्दु होने पर यह रूप बनता है। एव का ए अ रूप बनता है।

७५. एक्कं, एअं—

इसकी मूल प्रकृति 'एकम्' है 'सेवादिषुच' (३-५८) से विकल्प से द्वित्व होने पर सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर 'एक्कं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर पूर्ववत् विन्दु होने पर 'एअं' रूप बनता है।

७६. एण्हिं—

इसकी मूल प्रकृति 'इदानीम्' है। 'दाढादयो बहुलम्' (४-३३) से इदानीं के स्थान पर 'एण्हिं' निपात होता है।

७७. एद्दहं, एत्तिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'एतावान्' है। एतद् शब्द से 'परिमाणे किमादिभ्यो-भवन्ति केदृदृहादयः' इस वार्तिक से दृह् और त्तिअ ये प्रत्यय होते हैं— 'सोर्विन्दु नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

७८. एत्तो—

एतद् शब्द से ङ स् विभक्ति में संस्कृत में एतस्मात् बनता है उसी का 'एत्तो' प्रयोग प्राकृत भाषाओं में होता है। एतद्+ङस् से 'अन्त्यहलः' (४-६) से द् का लोप होने पर 'तो डसेः' (६-२०) से ङ स् को 'त्तो' होने पर 'तो त्थयोस्तलोपः' (६-२१) से त का लोप होने पर यह रूप बनता है।

७९. एत्थ—

एतद्+ङि से संस्कृत में 'एतस्मिन्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'एत्थ' बनता है। द् का लोप 'अन्त्यहल:' (४-६) से होने पर त का-लोप 'लो लयोस्तलोप:' (६-२१) से होने पर 'ङे स्सि म्मित्थाः' (६-२) से 'त्थ' होने पर यह रूप बनता है।

८०. एस, एसो—

एतद् शब्द से सु होने पर 'अन्त्यहल:' (४-६) से द् का लोप होने पर 'तदेतदोः सःसावनपुंसके' (६-२८) से त को स होने पर 'एतदःसा वो त्थं वा' (६-१९) से विकल्प से ओ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

८१. एते, एदे—

एतद् से जस् होने पर 'अन्त्यहल:' (४-६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२-३) से त को द होने पर 'सर्वादेर्जसएत्थम्' (६-१) से ए होने पर एते तथा एदे विकल्प से द होने पर बनते हैं।

८२. एएण, एदिणा—

एतद् शब्द से टा होने पर 'अन्त्यहल:' (४-६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२-५) से त को द होने पर 'इदमेतर्तकियद्तद् भ्यष्टा इणा वा' (६-३) से टा को विकल्प से इण् होने पर 'सन्धावचा मज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर एदिणा रूप बनता है पर जिस पक्ष में इण् नहीं होता वहां पूर्ववत् द् का लोप होने पर तथा त को द होने पर 'एचसुप्यङिङसोः' (५-४) से ए होने पर 'टामोर्णः (५-४) से ण होने पर एदेण प्रयोग बनता है।

८३. एदेसिं, एदाणं—

एतद् शब्द से षष्ठी के बहुवचन में आम् होने पर अन्त्यहल:' (४-६) से द् का लोप होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२-३) से त को द होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर 'आमएसिं' (६-४) से विकल्प से आम् को एसिं होने पर 'एदेसिं' रूप बनता है पर जिस पक्ष में 'एसिं' नहीं होता वहां पूर्ववत् द् लोप तथा त को द् होने पर टामोर्णः' (५-४) से ण होने पर 'जश्शस्ङ्स्यांसु दीर्घः' (५-२१) से दीर्घ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

८४. एरिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'ईदृशः' है। 'एन्नीडापीड कीदृगीदृशेषु' (१-१९) से ई को ए होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने

पर 'क्वचिदयुक्तस्यापि' (१-३१) से ऋ को रि होने पर 'शषोःसः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

८५. एशि, एशे, एश—

संस्कृत के एषः से ये तीनों शब्द बनते हैं। 'षसोःशः' (११-३) से ष को श होने पर 'अतइदेतौलुक्च' (११-१०) से विकल्प से इ, ए तथा लोप होने पर एशि, एशे तथा एश ये रूप बनते हैं।

८६. कअं—

इसकी मूल प्रकृति 'कृतम्' है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

८७. काहे कइआ—

इसकी मूल प्रकृति 'कदा' है। 'आहे इआ काले' (६-८) से आहे और इआ आदेश होने पर 'काहे' और 'कइया' रूप बनते हैं।

८८. कडे—

यह शब्द कृतः' के रूप में प्रयुक्त होता है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'कृञ्मृङ् गमांक्तस्यडः' (११-१५) से क्त के स्थान पर ड होने पर 'अतइदेतौलुक्च' (११-१०) से ए होने पर यह प्रयोग बनता है।

८९. कढइ—

संस्कृत की 'क्वथनिष्पाके' धातु है जिससे 'क्वथति' रूप बनता है उसी का 'कढइ' रूप बनता है 'क्वथेर्ढः' (८-३९) से 'वथ्' को ढ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

९०. कत्तरी—

यह शब्द 'कर्तरी' से बना है। 'सर्वत्रलवरास्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'तस्यटः' (३-२२) से त को ट प्राप्त था पर 'नधूर्तादिषु' (३-३४) से नहीं होता।

९१. को, के, केण, केहिं—

ये चारों रूप संस्कृत के कः, के, केन, कैः इन रूपों के क्रमशः बनते हैं। 'को' में 'किमः कः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'अत ओत् सोः (५-१) से ओ होने पर 'को' बनता है। किम् + जस् मे ' 'किमः कः' (६-१३) से

क होने पर 'सर्वादेर्जस एत्वं' (६-१) से ए होने पर तथा 'सन्धाव चा मज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर 'जश्शशोर्लोपः (५-२) से जस् का लोप होने पर 'के' बनता है । किम+टा से 'किमः कः' (६-१६) से क होने पर एचसुप्यङिङसोः' (५-१२) से ए होने पर 'टामोर्णः' (५-४) से ण होने पर 'केण' रूप बनता है । किं+भिस् में 'किमः कः' (६-१२) से क होने पर एचसुप्यङिङसोः ५,१२) से ए होने पर 'भिसोहिं' (५-५) से हिं होने पर 'केहिं' रूप बनता है ।

६२. किणा—

यह रूप भी विकल्प से किम्+टा का बनता है । 'किमः कः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'इदमेतत् कियत्तद्भ्यष्टा इणावा' (६-३) से टा को 'इण' होने पर किणा रूप बनता है ।

६३. केसिं—

किम्+आम् (षष्ठी के बहुवचन) में यह प्रयोग बनता है । 'किमः कः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर 'आम एसिं' (६-४) से 'एसिं' होने पर यह प्रयोग बनता है ।

६४. कास, कस्स—

कि शब्द से ङस् (षष्ठी के एक वचन) में 'कियत्तद्भ्यो ङस आसः' (६-५) से विकल्प से आस होने पर 'किमः कः' (६-१३) से कि को क होने पर कास बनता है पर जहां आस नहीं होता वहां 'स्सोङसः' (५-८) से स्स होने पर कस्स रूप बनता है ।

६५. किस्सा, कीसे, कीआ, कीऐ, कीअ, कीइ—

किम् शब्द से ङस ङसि, ङि में ये रूप भिन्न-भिन्न प्रत्यय होने पर बनते हैं । 'इदम्यः स्सा से' (६-६) से स्सा, से प्रत्यय होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से म् का लोप होने पर 'किस्सा, कीसे' रूप बनते हैं । दीर्घ सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से होता है । शेष चारों रूप 'टाङस् ङीनामिदेदवातः' (५-२२) से इत् एत् अत् और आत् होने पर बनते हैं ।

६६. कत्तो, कदो—

किम् शब्द से ङसि (पञ्चमी के एकवचन) में 'त्तो दो ङसेः' (६-९) से त्तो, दो होने पर और 'किमः कः' (६-१३) से किम् का क होने पर ये दोनों रूप बनते हैं ।

९७. कधेहि—

संस्कृत में 'कथय' (कहो) जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उसी अर्थ में शौरसेनी प्राकृत में कधेहि रूप बनता है। 'अनादावयुजोन्तथयोर्दधौ' (१२-३) से थ को ध होने पर 'लादेशेआ' (७-३४) से ए होने पर 'धातोर्भविष्यतिहिः' (७-१२) से हि होने पर यह रूप बनता है।

९८. कदुअ—

संस्कृत में 'कृत्वा' (करके) के अर्थ में 'कदुअ' होता है 'कृगमोर्दुअः' (१२-१०) से दुअ होने पर 'ऋतोऽत्' (१-२७ से ऋ को अ होने पर यह प्रयोग बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'कडुय' 'करिय' ये दो रूप भी बनते हैं।

९९. कहिं, कस्सि, कम्मि, कत्थ—

किम् शब्द से ङि (सप्तमी के एक वचन) में ये रूप बनते हैं। 'ङहिं' (६-७) से हिं होने पर 'कहिं' रूप बनता है। सर्वत्र 'किमः कः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'ङेस्सिं म्मित्था' (६-८) से स्सिं, म्मि, त्थ होने पर शेष तीन रूप बनते हैं।

१००. करइ—

कृ धातु से 'ऋतोऽरः' (८-१२) से अर होने पर कर बनता है और ति को 'तातिपोरिवेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१०१. कुणइ—

कृ धातु से 'कृञः कुणो वा' (८-१३) से कुण होने पर 'तातिपोरिवेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१०२. करेमि—

कृ धातु से 'डुकृञ्करः' (१२-१५) से कर होने पर 'लादेशेआ' (७-३४) से ए होने पर 'इङमिपोमिः' (७-३) से मि होने पर 'करेमि' रूप बनता है।

१०३. करिदाणि—

यह रूप कृत्वा से बनता है 'डुकृञ्करः' (१२-१५) से कृ को कर होने पर 'एच्च क्त्वा, तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'क्तो दाणिः' (११-१६) से दाणि होने पर करिदाणि प्रयोग बनता है।

१०४. कारेइ—

संस्कृत में णयन्त प्रक्रिया (प्रेरणार्थक में कृञ् धातु से णिच् प्रत्यय होकर 'कारयति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'कारेइ' रूप होता है।

सर्वप्रथम 'ऋतोऽरः' (८-१२) से ऋ को अर होने पर 'णिचएदादेरत आत्' (७-२६) से अ को आ होने पर और ए होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०५. करावेइ—

यह रूप भी कारयति (करवाता है) का बनता है। 'आवेच' (७-२७) से आव् भी विकल्प से होता है। 'ऋतोऽरः' (८-१२) से अर होने पर ए होने पर तथा आव् हो जाने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०६. करावि अं, कारिअं—

भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में क्त प्रत्यय होने पर संस्कृत में 'कारितम्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'करावि अं' रूप होता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽरः' (८-१२) से कृ को ऋ को अर होने पर 'आविः क्त कर्मभावेषुवा' (७-२८) से विकल्प से आवि होने पर क्त के क् त् का लोप 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है। जहां आवि नहीं होता वहां 'कारितम्' में 'क ग च-ज त द पयवां प्रायोलोपः' २-२) से त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर कारिअं बनता है।

१०७. कारिज्जइ, करावि ज्जइ—

कृञ् धातु से 'मध्येच' (७ २१) से ज्ज प्रत्यय होने पर पूर्ववत् 'ऋतोऽरः' (८-१२) से अर होने पर और 'आवि क्त कर्मभावेषुवा' (७-२८) से आवि होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर 'करावि ज्जइ' रूप बनता है। संस्कृत के कारितम् से 'कारिज्जइ' रूप बन जाता है।

१०८. करिसइ—

यह प्रयोग संस्कृत के कर्षति का बनता है। सर्वप्रथम 'वृष कृष मृष हृषामुतोऽरिः' (७-११) से ऋ को अरि होने पर 'शषोः सः' (२-४२) से ष् को स् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१०९. करिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'करीषः' है जिसका अर्थ सूखा गोबर या कण्डा है। 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१८) से ई को इ होने पर 'शषोः सः' (२-४२)

से ष् को स् होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

११०. कल्हारं—

इसकी मूल प्रकृति 'कह्लारं' है जिसका अर्थ सफेद कमल होता है। 'ह्न ह्लह्येषु नलमां स्थिति रूर्ध्वम्' (३-८) से ह्ल को ल्ह होने पर 'सोर्विन्दु-र्नपुंसके' (५-३१) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

१११. कलेसि—

इसकी मूल प्रकृति 'कलयसि' है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'थास्सिपोः सि से' (७-२) से सि होने पर 'लादेशेषा' (७-३४) से ए होने पर 'कलेसि' रूप बनता है।

११२. कसाअं—

इसकी मूल प्रकृति 'कषायम्' है जिसका अर्थ गेरूआ रंग या काढ़ा है। 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२-२) से य का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

११३. कह, कहं—

इनकी मूल प्रकृति 'कथम्' है 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) से थ को ह होने पर 'मांसादिषुवा' (४-१६) से विन्दु विकल्प से होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

११४. काहीअ—

यह रूप कृञ् धातु से तवतु प्रत्यय में बनता है। 'कृञः का भूत 'भविष्यतोश्च' (८-१७) से कृञ् को 'का' होने पर 'एकाचोहीअ' (७-२४) स 'ही अ' आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

११५. काहिइ—

कृञ् धातु से भविष्यत् काल में यह प्रयोग बनता हैं। 'कृञः का भूत-भविष्यतोश्च' (८-१७) से का होने पर 'धातोर्भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

११६. काऊण—

कृञ् धातु से क्त्वा प्रत्यय में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'कृञः का भूतभविष्यतोश्च' (८-१७) से कृञ् को का होने पर 'क्त्वा ऊणः' (४-३३) से 'ऊण' होने पर यह प्रयोग बनता है।

११७. काअव्वं—

कृञ् धातु से 'तव्यत्' में यह रूप बनता है। 'कृञः काभूतभविष्यतोश्च' (८-१७) से का होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व को द्वित्व होने पर 'मोविन्दुः' (४-१२) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

११८. काउं—

कृञ् धातु से संस्कृत में कर्तुम् रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'काउं' होता है। 'कृञः का भूतभविष्यतोश्च' (८-१७) से का होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'मोविन्दुः' (४-१२) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

११९. कातूनं—

कृञ् धातु से पैशाची प्राकृत में क्त्वा प्रत्यय के योग में यह रूप बनता है। 'कृञः का भूतभविष्यतोश्च' (८-१७) से कृञ् को का होने पर 'क्त्वस्तूनं' (१०-१३) से तूनं आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

१२०. कालासं, कालाअसं—

इनकी मूल प्रकृति 'कालायसम्' है जिसका अर्थ लोहा है। 'कालायसे यस्यवा' (४-३) से य का लोप विकल्प से होने पर जिस पक्ष में य का लोप हो जाता है वहां 'कालासं' रूप 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर होता है और जहां इस सूत्र से य का लोप नहीं होता वहां 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर पूर्ववत् विन्दु होने पर 'कालाअसं' यह प्रयोग बनता है।

१२१. काहं—

संस्कृत के 'करिष्यामि' अर्थ में 'काहं' बनता है। 'कृदाश्रुवचि गमिदृशि-विदिरूपाणांकाहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) इस सूत्र से 'काहं' आदेश होता है।

१२२. काहे—

यह रूप 'कदा' का बनता है। 'किमःकः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'आहे इआ काले' (६-८) से 'आहे' होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से क के अ का लोप होने पर 'काहे' रूप बनता है।

१२३. किई—

इसकी मूल प्रकृति 'कृति' है। 'इदृत्यादिषु' (१-२८) से ऋ को इ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१२४. किणा—

किम् शब्द से टा होने पर 'किमःकः' (६-१३) से किम् को क होने पर 'इदमेतत्किंयत्तद्भ्यष्टा इणावा' (६-३) से इणा होने पर 'सन्धावचामज्लोपविशेषाः बहुलम्' (४-१) से क के अ का लोप होने पर यह रूप बनता है।

१२५. किणइ—

संस्कृत में 'डुक्री द्रव्य विनिमये' इस धातु से 'क्रीणाति या क्रीणीते' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं के प्राकृत में 'किणइ' बनता है। 'क्रिञः किणः' (८-३०) से किण होने पर 'ततिपो रिदेतो' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१२६. किणो—

संस्कृत में 'किन्नु' यह प्रश्नवाचक निपात् या अव्यय है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'किणो' बनता है। 'किणो प्रश्ने' (९-९) से किणो निपात संज्ञक होता है। किन्हीं आचार्यों के मत से 'कीस' तथा 'किमु' भी प्रश्न वाचक होते हैं।

१२७. किर, किला—

संस्कृत में अनिश्चित अथवा कहीं-कहीं निश्चित अर्थ में भी 'किल' अव्यय का प्रयोग होता है उसी अर्थ में प्राकृत भाषाओं में 'इर किर किला अनिश्चिताख्याने' (९-५) से किर और किला शब्द भी निपतित हैं।

१२८. किरिआ—

इसकी मूल प्रकृति 'क्रिया' है। 'क्लिष्ट श्लिष्ट रत्न क्रिया शार्ङ्गेषु तत्स्वरवत् पूर्वस्य' (३-६०) से संयुक्त 'क्रि' का विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) होने पर और पूर्व स्वरता होने पर 'किरि' ऐसा रूप बनने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'किरिआ' यह प्रयोग बनता है।

१२९. किरीतो—

इसकी मूल प्रकृति 'क्रीतः' है। 'इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु' (३-६२) से इ होने पर तथा संयुक्त का विप्रकर्ष

होने पर पूर्व स्वरता भी होने पर 'किरी' यह रूप बनता है फिर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१३०. किलित्तं--

इसकी मूल प्रकृति 'कलुप्तम्' है जिसका अर्थ पूरा करना है। सर्वप्रथम 'ऌतः क्लृप्त इलिः'(१-३३) से लृ को 'इलि' होने पर 'किलि' बनता है फिर 'उपरिलोपः क ग ड त द प ष सम्' (३-१) से प् का लोप होने पर 'शेषादेश-योर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुनपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनत है।

१३१. किसरो—

इसकी मूल प्रकृति 'कृशर' है 'इदृद्भ्यादिषु' (१-१२) से ऋ को इ होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३२. किस्सा—

संस्कृत में किम् शब्द से ङस् विभक्ति में स्त्रीलिंग में 'कस्याः' बनता है उसी का प्राकृत में 'किस्सा' होता है। 'इदृद्भ्यः स्सा से (६-६) से ङस् को स्सा आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है। कासे, कीआ, कीए, कीअ, कहि आदि रूप भी ङस् में बनते हैं।

१३३. कीरइ—

प्राकृत भाषाओं में यह रूप संस्कृत के 'क्रियते' के रूप में प्रयुक्त होता है। 'हृ क्रोर्हीरकीरौ' (२-६०) से कृञ् को 'कीर' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३४. केद्दहं केत्तिअं--

संस्कृत में परिमाणवाची 'कियत्' शब्द के स्थान पर इनका प्रयोग होता है। 'परिमाणेकिमादिभ्योभवन्ति केद्दहादयः' यह वार्तिक 'आल्विल्लोल्लाल वन्तेन्तामतुपः' (४-२५) पर है इससे दहादिप्रत्यय होकर ये रूप बनते हैं। 'सोर्विन्दुनपुंसके' (५-३०) से सर्वत्र विन्दु होता है।

१३५. केरिसो—

कीदृशः शब्द का यह रूप बनता है। 'एन्नीडापीड कीदृगीदृशेषु' (१-१९) से ए होने पर 'क्वचिद्युक्तस्यापि' (१-३१) से ऋ को रि होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होन पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१३६. कोट्टिमं—

इसकी मूल प्रकृति 'कुट्टिमम्' है। 'उत ओत् तुण्डरूपेषु' (१-२०) से कु के उ को ओ होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

१३७. कोत्थुहो—

इसकी मूल प्रकृति 'कौस्तुभः' है। सर्वप्रथम 'औत ओत्' (१-४१) से औ को ओ होने पर 'स्तस्यथः' (३-१२) से स्त को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ् को त होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) से भ को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (१-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१३८. क्खु—

संस्कृत में जिन अर्थों में 'खलु' का प्रयोग होता है उसी के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'क्खु' होता है। 'हुं क्खु निश्चय वितर्क सम्भावनेषु' (९-६) से क्खु निपात होता है।

१३९. खइअं, खाइअं—

इसकी मूल प्रकृति 'खादितम्' है। सर्वप्रथम 'अदातो यथादिषुवा' (१-१०) इस सूत्र से विकल्प से आ को इ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (१-२ से द् तथा त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

१४०. खाइ—

यह प्रयोग 'खादति' से बनता है। सर्वप्रथम 'खादिधाव्योः खा धौ' (८-२७) से 'खाद' को 'खा' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (८-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४१. खुप्पइ—

संस्कृत में 'टुमस्जो शुद्धौ' धातु है जिसका 'मज्जति' रूप बनता है इसी का प्राकृत भाषाओं में 'खुप्पइ' रूप भी बनता है। 'बुट्ट खुप्पो मस्जेः' (८-६८) इस सूत्र से खुप्प आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४२. गच्छं—

संस्कृत में गम् धातु से भविष्यत् काल में गमिष्यामि रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'गच्छं' होता है। 'कृ दा भ्रु वच्चि गमि दृशि विदि रूपाणां

काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से गच्छं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

१४३. गडे—

संस्कृत में क्त प्रत्यय के योग में गम् धातु से 'गतः' रूप बनता है उसी का 'गडे' रूप होत है। कृञ् मुङ् गमां क्रस्यङः' (११-१५) से क्त को ड होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से म् का लोप होने पर 'अत इदेतौलुक्च' (११-१०) से ए होने पर 'गडे' रूप बनता है।

१४४. गड्डो—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्तः' है जिसका अर्थ 'गड्ढा' है। सर्वप्रथम 'गर्ते डः' (३-२५) से र्त को ड होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ड को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४५. गदुअ—

संस्कृत में गम् धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय होने पर 'गत्वा' रूप बनता है उसी का 'गदुअ' रूप बनता है। 'कृगमोर्दुअः' (१२-१०) से 'दुअ' होने पर 'अन्त्यहलः' (-५) से म् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'कृगमो ड दुअ' (हेमचन्द्र) से डुअ' होने पर 'गडुअ' यह रूप भी बनता है।

१४६. गब्भिणं—

इसकी मूल प्रकृति 'गर्भितम्' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से भ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व भ को ब होने पर 'गर्भितेणः' (२-१०) से त को ण होने पर सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

१४७. गम्मइ, गमीअइ, गमिज्जइ—

गम् धातु का कर्म वाच्य में गम्यते बनता है उसी का 'गम्मइ' रूप होता है। 'गमादीनां द्वित्वं वा' (८-५८) से म् को विकल्प से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है। ति को इ होने पर म के अ तथा इ में स्वर सन्धि नहीं होती क्योंकि 'स्यादेः' (हेमचन्द्र) से स्वर सन्धि का निषेध होता है; जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता

वहाँ 'यक ईअ इज्जो' (७-८) से ईअ और इज्ज होने पर 'गमीअइ' तथा 'गम्मिज्जइ' रूप बनते हैं।

१४८. गाहिज्जइ, गहिज्जइ—

ग्रह धातु से संस्कृत में भाव कर्म में गृह्यते' रूप बनता है, प्राकृत भाषाओं में ये दो रूप उसी के बनते हैं। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर यक ईअ इज्जो' (७ ८) से इज्ज होने पर 'ग्रहेदीर्घोवा' (८-६१) से विकल्प से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये रूप बनते हैं।

१४९. गाइ, गाअइ—

संस्कृत में गै धातु से गायति रूप बनता है उसी के प्राकृत भाषाओं में ये रूप बनते हैं। 'ठाझा गाश्च वर्तमानभविष्यद्विध्यादेक वचनेषु (८-२६) से गै को गा होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर गाइ रूप बनता है। पर 'ष्ठाग्रागानां ठाअ झाअ गाआः' (८-२५) से गै को 'गाअ' यह आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७ १) से इ होने पर 'गाअइ' रूप बनता है।

१५०. गिरा—

संस्कृत के 'गिर्' (वाणी) के अर्थ में प्राकृत मे यह प्रयोग बनता है। 'रोरा' (४-८) से र् को रा होने पर यह रूप होता है।

१५१. गेण्हइ—

संस्कृत के 'गृह्णाति' (ग्रहण करना) का यह रूप बनता है। 'ग्रहेर्गेण्हः' (८-१५) से 'गेण्ह' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१, से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१५२. गेण्ह—

यह रूप 'गृहाण' का बनता है। 'ग्रहेर्गेण्हः' (८-१५) से गेण्ह होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से सि का लोप होने पर यह रूप बनता है।

१५३. घेऊण, घेत्तूणं, घेत्तूनं—

इनकी मूल प्रकृति 'गृहीत्वा' है। 'घेत् क्त्वा, तुमुन् तव्येषु' (८-१६) से 'घेत्' होने पर 'क्त्वाऊणः' (४-२३) से 'ऊण' होने पर 'क ग च ज त द य यवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'घेऊण' रूप बनता है। 'घेत्तूणं' में पूर्ववत् घेत् तथा अण् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त को द्वित्व होने पर 'घेत्तूणं' रूप बनता है। पैशाची में 'क्त्वस्तून'

(१०-१३) से तूनं होने पर पूर्ववत् द्वित्व होने पर पूर्व सूत्र से घेत् होने पर 'घेत्तूणं' रूप बनता है।

१५४. घेत्तुं—

यह रूप संस्कृत के 'गृहीतुन्' का बनता है। 'घेत् क्त्वा तुमुन्तव्येषु' (२-१६) से घेत् होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'मो विन्दुः' से विन्दु होने पर घेत्तुं होता है।

१५५. घेत्तव्वं—

तव्यत् प्रत्यय के योग में 'गृहीतव्यम्' रूप बनता है 'घेत्क्त्वातुमुन्तव्येषु' (८-१६) से घेत् होने पर क 'क ग च ज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'अधोमनयाम्' (३-३) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व को द्वित्व होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-०) से विन्दु होने पर 'घेत्तव्वं' रूप बनता है।

१५६. घोलइ—

संस्कृत में घुण् या घूर्ण् धातु से 'घूर्णते' रूप बनता है। 'घुणो घोलः' (८-६) से घोल् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्राकृत रूप बनता है।

१५७. चोद्दही, चउद्दही—

इनकी मूल आकृति 'चतुर्दशी' है। 'चतुर्थी चतुर्दश ोस्तुना' (१-९) से 'चतु' को चो होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'दशादिषुहः' (२-४४) से श को ह होने पर 'चोद्दही' रूप बनता है। 'चतु' को चो विकल्प से होने पर जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायो-लोपः' (२-२) से त का लोप होने पर पूर्ववत् 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से द् को द्वित्व होने पर 'दशादिषुहः' (२-४४) से श को ह होने पर 'चउद्दही' रूप बनता है।

१५८. चऊहिं—

यह शब्द 'चतुर्भिः' से बना है। 'अन्त्यहल.' (४-६) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त का लोप होने पर 'सुभिस्सुःसुदीर्घः' (५-१२) से दीर्घ होने पर 'भिसेहिं' (५-५) से 'भि' को 'हिं' होने पर चऊहिं रूप बनता है।

१५९. चत्तारो, चत्तारि—

संस्कृत के **चत्वारः** के स्थान पर ये दोनों रूप बनते हैं। **'चतुरश्चत्तारो चत्तारि'** (६-५८) से चत्तारो तथा चत्तारि होने पर **'जश्शसोर्लोपः'** (५-२) से जस् तथा श स् का लोप होने पर ये रूप होते हैं।

१६०. चतुण्हं, चउण्हं—

संस्कृत के **'चतुर्णाम्'** का यह रूप बनता है। **'एषामामोण्हं'** (६-५९) से आम् को **'ण्हं'** होने पर **'अन्त्यहलः'** (४-६) से र् का लोप होने पर यह प्रयोग बनता है। **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से त् का लोप प्रायः होने पर **'चउण्हं'** रूप भी बनता है।

१६१. चमरं, चामरं—

इनकी प्रकृति **'चामरम्'** है। **'अवातो यथादिषुवा'** (१-१०) से विकल्प से आ को अ होने पर **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

१६२. चंपइ—

संस्कृत में **'चर्च अध्ययने'** इस धातु से **'चर्चयति'** रूप बनता है उसी का **'चंपइ'** रूप होता है। **'चर्चेश्चंपः'** (८-६५) से चर्च को चंप होता है और **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर चंपइ रूप बनता है।

१६३. चल्लइ, चलइ—

ये दोनों रूप **'चलति'** के बनते हैं। **'स्फुटिचल्योर्वा'** (८-५३) से ल को विकल्प से द्वित्व होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

१६४. चिट्ठदि—

स्था धातु से संस्कृत में 'तिष्ठति' रूप बनता है। उसी का प्राकृत भाषा में यह प्रयोग होता है। **'स्थश्चिट्ठः'** १२-१६) से स्था को **'चिट्ठः'** होने पर **'ति'** के त को **'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ'** (१२-३) से त को द होने पर यह रूप बनता है।

१६५. चिष्ठदि—

तिष्ठति का मागधी में यह रूप बनता है। पहले **'स्थश्चिट्ठः'** (१२-१६) से स्था को चिट्ठ होने पर **'चिट्ठस्य चिष्ठ'** (११-१४) से चिट्ठ को चिष्ठ होने पर **'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ'** (१२-३) से त को द होने पर यह रूप बनता है।

१६६. चिट्ठन्ति—

तिष्ठन्ति के स्थान पर यह प्रयोग होता है। स्था को 'स्थश्चिट्ठः' (१२-१६) से 'चिट्ठ' होने पर 'न्तिहेत्थामोमुमाबहुषु' (७-४७) से न्ति होने पर यह प्रयोग बनता है।

१६७. चुबंइ—

चुम्बति के स्थान पर इसका प्रयोग होता है। 'शेषाण मदन्तता' (८-७१) से व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

१६८. छिंदइ—

छिदिर् धातु से संस्कृत में छिनत्ति रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'छिंदइ' रूप होता है। भिदिच्छिदो रन्त्यस्यन्दः' (८-३८) से 'न्द' होने पर 'यथितद्वर्गान्तः' (४-१७) से बिन्दु होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१६९. जतो, जदो—

यत् शब्द से संस्कृत में 'यस्मात्' रूप बनत है उसी का प्राकृत में 'जत्तो, जदो' बनते हैं। 'त्तो दोडसेः' (६-९) से त्तो तथा दो प्रत्यय होते हैं तथा 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज होने पर ये रूप बनते हैं।

१७०. जंपइ—

इसकी मूल प्रकृति 'जल्पति है जिसका अर्थ कहना होता है। 'जल्पेर्लोप' (८-२४) से ल् को म् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१७१. जंभाअइ—

संस्कृत में 'जभिजृभीगात्रविनामे' इस धातु से 'जृम्भते' रूप बनता है उसी का प्राकृत में यह रूप है। 'जृभो जंभाअः' (८-१४) से 'जंभाअ' यह आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' ७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१७२. जम्मो—

इसकी मूल प्रकृति जन्म' है। 'न्मोमः' (३-४३) से न्म को म होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से म को द्वित्व होने पर 'नसान्तप्रावृट्शरदः पुंसि' (४-१२) से पुल्लिंग होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१७३. जह, जहा—

इसकी मूल प्रकृति 'यथा' है। सर्वप्रथम 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज होने पर 'ख घ थ ध भां ह' (२-२७) से थ को ह होने पर 'अदातोयथा-दिषुत्रा' (१-१०) से आ को विकल्प से अ होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

१७४. जा, जाव—

ये दोनों रूप 'यावद्' के बनते हैं। 'यावदादिषुवस्य' (४-५) से व का विकल्प से लोप होने पर 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज होने पर 'अन्त्यहलः (४-६) से द् का लोप होने पर जा, जाव ये दो रूप बनते हैं।

१७५. जाणइ—

ज्ञा धातु से संस्कृत में जानाति' रूप बनता है उसी का जाणइ' बनता है। 'ज्ञोजाणमुणौ' (८-२३) से जाण होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१७६. जास, जस्स—

यद् शब्द का ङस् विभक्ति में संस्कृत में यस्य बनता है उसी का जास, जस्स बनता है। सर्वप्रथम 'किमत्तद्भ्योङसः आसः' (६-५) से 'आस्' होने पर (२-३१) से ज् होने पर 'जास' बनता है पर जिस पक्ष में अस 'आदेर्योजः' वहाँ 'स्योऽसः' (५-८) से स्स होने पर पूर्ववत् य को ज् होने पर नहीं होता जस्स रूप बनता है।

१७७. जाहे, जइआ—

यह शब्द से ङि विभक्ति में यदा रूप संस्कृत में बनता है उसी का यह प्राकृत रूप है 'आहे इआ कालें' (६-८) से आहे और 'इआ' आदेश होने पर 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज् होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

१७८. जहिं; जस्सि, जम्मि, जत्थं—

यद् शब्द से ङि विभक्ति में संस्कृत मे यस्मिन् रूप बनता है उसी के प्राकृत भाषाओं में ये चारों रूप बनते हैं 'ङे हिं' (६-७) से 'हिं' होने पर तथा 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज् होने पर 'जहिं' रूप बनता है। शेष तीन रूप 'ङेस्सिम्मित्थाः' ६-२) से स्सि म्मि तथा त्थ प्रत्यय होने पर बनते हैं।

१७९. जिणइ—

'जि जये' इस धातु से संस्कृत में जयति रूप बनता है उसी का 'जिणइ' प्राकृत रूप है। सर्वप्रथम **श्रु हु जि लू धुवांणोऽन्त्येह्रस्वः**' (८-५६) से ण होने पर '**ततिपोरिदेतौ**' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिणइ' रूप बनता है।

१८०. जिव्वइ, जिणिज्जइ—

जि धातु से '**भावकर्मणोर्व्वश्च**' (८-५७) से व्व तथा ण दोनों होते हैं अतः प्रथम '**व्व**' होने पर '**ततिपोरिदेतौ**' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिव्वइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ '**श्रुहुजिलूधुवांणोऽन्त्ये ह्रस्वः**' (८-५६) से ण होने पर '**एच्च क्त्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु**' (७-३३) से ण को णि होने पर '**मध्ये च**' (७-२१) से मध्य में ज्ज होने पर '**ततिपोरिदेतौ**' (७-१) से ति को इ होने पर 'जिणिज्जइ' रूप बनता है।

१८१. जिणा, जेण—

यद् शब्द से टा प्रत्यय होने पर ये दोनों रूप बनते हैं। '**इदमेतक्रियत्तद्भ्यष्टाइणावा**' (६-३) से 'इणा' होने पर '**सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्**' (४-१) से य के अ का लोप होने पर '**अन्त्यहलः**' (४-६) से द् का लोप होने पर '**आदेर्योजः**' (२-३१) से य को ज् होने पर 'जिणा' रूप बनता है पर जिस पक्ष में इणा नहीं होता वहाँ '**टामोर्णः**' (५-४) से ण होने पर '**एच सुप्यङि ङसोः**' (५-१२) से ए होने पर पूर्ववत् य को ज होने पर 'जेण' रूप बनता है।

१८२. जिस्सा, जीसे, जीआ, जीए, जीअ—

यद् शब्द से ङस् विभक्ति में स्त्रीलिंग में ये रूप बनते हैं। '**इद्भ्यः स्सा से**' (६-६) से स्सा तथा से होने पर '**आदेर्योजः**' (२-३१) से य को ज होने पर तथा '**सन्धा वचा म ज् लोप विशेषाबहुलम्**' (४-१) से दीर्घ होने पर जिस्सा तथा 'जीसे' रूप बनते हैं। शेष रूप '**टा ङस् ङीनामिदेवातः**' (५-२२) से इत् एत् अत् आत् तथा '**आदीतौ बहुलम्**' (५-२४) से स्त्रीलिंग में आत् होने पर बनते हैं।

१८३. जुग्गं—

इसकी मूल प्रकृति '**युग्मम्**' है '**अधोमनयाम्**' (३-२) से म् का लोप होने पर '**शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ**' (३-५०) से ग् को द्वित्व होने पर '**सोर्बिन्दुर्नपुंसके**' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१८४. जीआ—

इसकी मूल प्रकृति 'ज्या' है जिसका अर्थ प्रत्यञ्चा है। 'ज्यायामीत्' (४-६६) से ज्या शब्द के संयुक्त ज्या को विप्रकर्ष ज् या होने पर ईकार इसी सूत्र से होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'जीआ' रूप बनता है।

१८५. जुज्झइ—

इसकी मूल प्रकृति 'युद्धयते' है। 'युधि बुध्योर्झः' (२-४८) से 'ध्य' को झ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व झ को ज् होने पर 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१८६. जूरइ—

इसकी मूल प्रकृति 'क्रुध्यति' है। 'क्रुधेर्जूरः' (८-६४) से जूर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१८७. जेट्ठ,जे तिअ—

ये दोनों रूप यावत् के बनते हैं। 'परिमाणे किमादिभ्यो भवन्ति केट्ठहादयः' इस वार्तिक से जो कि 'आल्विल्लोल्लालवन्तेन्तामतुपः' (४-२५) सूत्र पर है इससे ठह, तिअ होने पर 'आदेर्योजः' (२-३१) से य को ज होने पर 'सुर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर ये रूप बनते हैं।

१८८. जेव्व—

संस्कृत में 'एव' अव्यय है उसका अर्थ 'ही' होता है। उसी का प्राकृत में 'जेव्व' बनता है। 'एवस्स जेव्व' (१२-२३) से जेव्व होने पर यह रूप बनता है।

१८९. झाअन्ति—

संस्कृत में 'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातु से 'ध्यायन्ति' रूप बनता है उसी का प्राकृत यह रूप है। 'ष्ठाध्यागानां ठाअ झाअ गाआः' (२-२५) से ध्या को 'झाअ' होने पर 'झाअन्ति' रूप बनता है।

१९०. झिज्जइ—

संस्कृत में 'क्षिक्षये' इस धातु से 'क्षयति' रूप बनता है उसी का क्षियो-झिज्जः' (८-३७) से 'झिज्ज' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

१६१. ठाअन्ति—

संस्कृत में स्था धातु से तिष्ठन्ति रूप बनता है उसी का 'ष्ठाध्या गानां ठाअ, म्माअ, गाअाः' (८-२५) से ठाअ होने पर यह रूप बनता है।

१६२. ठिअं—

संस्कृत के स्थितम् का यह रूप है 'ठाझागाश्च वर्तमान भविष्यद् विध्यादेक वचनेषु' (८-२६) से स्थ को ठ होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

१६३. णच्चइ—

यह प्रयोग नृत्यति के रूप में प्रयुक्त होता है। 'ऋतोरः' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'च्चो व्रजनृत्योः' (८-४७) से च्च प्रत्यय होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

१६४. णत्थि—

इसकी मूल प्रकृति 'नास्ति' है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'स्तस्य थः' (३-१२) से 'स्त' को थ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से थ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषुयुजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व थ को त् होने पर यह रूप बनता है।

१६५. णडो—

यह शब्द 'नटः' से बना है। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'टोडः' (२-२०) से ट को ड होने पर यह रूप बनता है।

१६६. णाहलो—

यह शब्द 'लाहलः' से बना है। 'लाहले णः' (२-४०) से पहले ल को ण होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१६७. णिअक्कइ—

संस्कृत में 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु है उसी का यह रूप बनता है। 'दृशेः पुल अ, णिअक्क अवक्खाः' (८-६९) से 'णिअक्क' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है। हेमचन्द्र के अनुसार 'दृशेर्दीस पुलणि छणि अछक्खाः' (हेमचन्द्र) से दीसइ, पुलइ, णिछइ, अवक्खइ रूप बनते हैं।

१९८. णिक्कन्तो—

इसकी मूल प्रकृति 'निष्क्रान्तः' है। 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'उपरिलोपः क ग ड त द प षसाम्' (३-१) से ष् का लोप होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से आ को अ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' से ओ होने पर यह रूप बनता है।

१९९. णिम्माणइ—

संस्कृत में इसके अर्थ में 'निर्माति' का प्रयोग होता है। 'निरोमाङोमाणः' (८-३६) से निर उपसर्ग पूर्वक माङ् माने धातु से माण आदेश होने पर 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से म्को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२००. णिहित्तो, णिहिओ—

इनकी मूल प्रकृति 'निहितः' है। 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सेवादिषु च' (३-५८) से त् को विकल्प से द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'णिहित्तो' यह रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२०१. णो—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से शस् (द्वितीया के बहुवचन) में 'अस्मान्' और 'नः' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में 'णो' होता है। 'णो शसि' (६-४४) से 'णो' होने पर यह रूप बनता है।

२०२. णोल्लइ—

संस्कृत में 'णुद् प्रेरणे' इस धातु से नुदति या नुदते ये रूप बनते हैं। उन्हीं का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। 'णुदो णोल्लः' (८-७) से 'णुद' को 'णोल्ल' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२०३. तआणिं—

इसकी मूल प्रकृति 'तदानीं' है। 'कगचजतद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'णोः सर्वत्र' (२-४२) से न् को ण होने पर 'इदीतः

पानीयादिषु' (१-१८) से ई को इ होने पर 'मो विन्दुः' (४-१२) से विन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

२०४. तइअं—

इसकी मूल प्रकृति 'तृतीयम्' है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽत्' (१-२) से ऋ को अ होने पर 'कगचज तद पयवां प्रायो लोपः' (२-२) से तो के त् तथा य् का लोप होने पर 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१८) से ई को इ होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२०५. तं, तुमं—

युष्मद् शब्द से सु विभक्ति में 'युष्मदस्तं तुमं' (६-२६) से तं तथा तुमं आदेश होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२०६. तुं, तुमं—

युष्मद् शब्द से अम् विभक्ति में 'तुं वामि' (६-२७) से तुं तथा तुमं आदेश होते हैं।

२०७. तुज्झे, तुम्हे—

युष्मद् शब्द से जस् विभक्ति में 'तुज्झे तुम्हे जसि' (६-२८) से विकल्प से ये दोनों प्रत्यय होने पर तुज्झे तथा तुम्हें आदेश होते हैं।

२०८. वो—

युष्मद् शब्द से शस् विभक्ति में 'वोचशसि' (६-२९) से वो आदेश विकल्प से होता है तब यह रूप बनता है अन्यथा तुज्झे और तुम्हें बनते हैं।

२०९. तइ, तए, तुमए, तुमे—

ये चारों रूप युष्मद् शब्द से टा तथा ङि विभक्ति में बनते हैं। 'ठाङ्योस्तइ तए तुमए तुमे' (६-३०) से तइ, तए, तुमए, तुमे आदेश होने पर ये चारों रूप बनते हैं।

२१०. तुमो, तुह, तुज्झ, तुम्ह, तुम्म—

युष्मद् शब्द से ङस् विभक्ति में 'ङसि तुमो तुह तुज्झ तुह्म तुम्मा' (६-३०) से ये आदेश होने पर ये पांचों रूप बनते हैं।

२११. ते, दे—

युष्मद् शब्द से टा तथा ङस् में 'आङि च ते दे' (६-३२) से ते दे होने पर ये दो रूप बनते हैं।

२१२. तुमाइ—

युष्मद् शब्द से टा विभक्ति में यह रूप भी बनता है। 'तुमाइ च' (६-३३) से तुमाइ आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२१३. तुज्झेहिं, तुह्मेहिं, तुम्मेहिं—

युष्मद् शब्द से भिस् होने पर 'तुज्झेहिं, तुह्मेहिं, तुम्मेहिं भिसि' (६-३४) से ये तीनों आदेश होते हैं।

२१४. तत्तो, तइत्तो, तुमादो, तुमादु, तुमाहि—

युष्मद् शब्द से ङसि विभक्ति में ये पांचों रूप बनते हैं। 'ङसौ तत्तो, तइत्तो, तुमादो, तुमादु, तुमाहि' (६-३५) से ये प्रत्यय होने पर ये रूप बनते हैं।

२१५. तुह्मार्हिंतो, तुह्मासुन्तो—

युष्मद् शब्द से पंचमी के बहुवचन भ्यस् में ये दोनों रूप बनते हैं। 'तुह्मार्हिंतो, तुह्मासुन्तो भ्यसि' (६-३६) से ये दोनों आदेश होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

२१६. वो, भे, तुज्झाणं, तुह्माणं—

युष्मद् शब्द से षष्ठी के बहुवचन आम् में ये चारों रूप बनते हैं। 'वोभे, तुज्झाणं, तुह्माण मामि' (६-३७) से ये चारों आदेश होने पर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

२१७. तुमम्मि—

युष्मद् शब्द से ङि विभक्ति में 'ङौ तुमम्मि' (६-३८) से तुमम्मि आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

२१८. तुज्झेसु, तुह्मेसु—

युष्मद् शब्द से सुप् (सप्तमी के एक वचन) होने पर 'तुज्झेसु, तुह्मेसु सुपि' (६-३९) से ये दोनों आदेश होने पर ये प्रयोग बनते हैं।

२१९. ताहे, तइआ—

ये दोनों रूप 'तदा' के बनते हैं। 'आहे, इआ काले' (६-८) से इआ और आहे होने पर ताहे तथा तइआ बनते हैं।

२२०. तंसं—

इसकी मूल प्रकृति 'त्र्यस्र' है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से दोनों र् का लोप होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य का लोप होने पर 'वक्रादिषु'

(४-१५) से त के ऊपर विन्दु होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से अन्त में विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२२१. तरइ, तीरइ—

संस्कृत में 'शक्लृ शक्तौ' इस धातु से 'शक्नोति' रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप बनते हैं। 'शकेस्तर वअ तीराः' (८-७०) से 'तर' तथा 'तीर' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२२. तह, तहा—

इनकी मूल प्रकृति 'तथा' है। 'खघथधभांहः' (२-२७) से थ को ह होने पर 'अदातोयथादिषुवा' (१-१०) से आ को अ विकल्प से होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२३. तहिं, तंस्सि, तम्मि, तत्थ—

तद् शब्द से ङि विभक्ति में 'तस्मिन्' रूप बनता है। 'ङेर्हि' (६-७) से ङि के स्थान पर हिं आदेश विकल्प से होता है अतः हिं होने पर 'तहिं' बनता है पर जिस पक्ष में हिं नहीं होता वहां 'ङेः स्सिंम्मित्थाः' (६-२) से ये तीनों प्रत्यय होने पर तंस्सि, तम्मि तत्थ ये तीनों रूप बनते हैं।

२२४. तहि, तहिं—

ये दोनों रूप 'तहिं' के बनते है जिसका अर्थ 'तो' होता है। 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'मांसादिषुवा' (४-१६) से विकल्प से विन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२५. ता, ताव—

ये दोनों रूप 'तावत्' के बनते हैं। 'यावदादिषुवस्य' (४-५) से व का लोप विकल्प से होने पर 'अन्त्यहलः' (४-६) से अन्तिम त् का लोप होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२२६. तारिसो—

इसकी मूल प्रकृति 'तादृशः' है 'ऋचिद्युक्तस्यापि' (१-३१) से ऋ को रि होने पर 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से द् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'अत ओत्, सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२२७. तास, तस्स—

संस्कृत में तद् शब्द से ङस् विभक्ति (षष्ठी के एकवचन) में तस्य रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप प्राकृत भाषाओं में बनते हैं। 'किंयत्तदो ङस

आसः' (६-५) से विकल्प से 'आस' होने पर 'तास' रूप बनता है और जिस पक्ष में आस नहीं होता वहां 'स्सोऽसः' (५-२) से स्स होने पर 'तस्स' रूप बनता है।

२२८. तिणा, तेण—

इन दोनों की प्रकृति 'तेन' है जो संस्कृत में तद् शब्द स टा विभक्ति (तृतीया के एक वचन में) बनता है 'इदमेतत् किंयत्तद्भ्यष्टा इणा वा' (६-३) से विकल्प से इणा होने पर 'अन्त्य हलः' (४-६) से द् का लोप होने पर तिणा रूप बनता है पर जिस पक्ष में इणा नहीं होता वहां 'टामोर्णः' (५-४) से टा को ण होने पर 'एचसुप्यङि ङसोः' (५-१२) से ए होने पर 'तेण' रूप बनता है।

२२९. तिण्णि—

संस्कृत में त्रि शब्द से जस् में त्रयः तथा शस् में त्रीन् ये रूप बनते हैं। उन्हीं का प्राकृत में 'तिण्णि' रूप होता है। 'तिण्णिजश्शस्भ्याम्' (६-५६) से 'तिण्णि' आदेश होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

२३०. तीहिं, तीसु—

संस्कृत में त्रि शब्द से भिस् तथा सुप् में क्रमशः त्रभिः तथा त्रिषु रूप बनते हैं उन्हीं के तीहि तथा तीसु रूप प्राकृत भाषाओं में बनते हैं। सर्वप्रथम 'स्त्रेत' (६-५५) से त्रि को ति होने पर 'भिसोहिं' (५-५) से भि को हिं होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२३१. तिस्सा, तीसे, तीआ, तीए, तीअ, तीइ—

तद् शब्द से ङस् विभक्ति में स्सा, से ये आदेश होते हैं और 'आदीतौ बहुलम्' (५-२४) से ई होने पर ये रूप बनते हैं। शेष रूप 'टा ङस् ङीना मिदेदवातः' (५-२२) से इत् एत् अत् तथा आत् होने से बनते हैं।

२३२. तुवरइ—

यह रूप संस्कृत 'त्वरति' या 'त्वरते' का बनता है जिसका अर्थ शीघ्रता करना है। सर्वप्रथम 'त्वरस्तुवरः' (८-४) से तुवर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२३३. तुहद्धं, तुहअद्धं—

इनकी मूल प्रकृति तव अर्द्धम् है। सर्वप्रथम 'ङसि तुमो तुह तुज्झ तुध्र तुम्मा:' (६-३१) से तुह होने पर अर्ध के अ का लोप 'सन्धावचामज् लोप विशेषाबहुलं' (४-१) से विकल्प से होता है अतः अ का लोप होने पर 'सर्वत्र

लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर 'तुहद्ध' बनता है पर जिस पक्ष में अ का लोप नहीं होता वहाँ 'तुहअद्ध' रूप होता है।

२३४. तूरं—

इसकी मूल प्रकृति 'तूर्य्य' है। 'तूर्य्यधैर्य सौन्दर्याश्चर्यपर्यन्तेषुरः' (३-१८) से र्य को र होने पर 'सोविन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२३५. तूसइ—

संस्कृत के तुष्यति का यह रूप है। 'रुषादीनां दीर्घता' (८-४६) से उ को दीर्घ होने पर 'शषोसः' (२-४३) से ष को स् होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने पर 'ततिपोरिवेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'तूसइ' रूप बनता है

२३६. तेद्दहं, तेत्तिअं—

तावद् शब्द से ये दो रूप भी बनते हैं। 'परिमाणेकिमादिभ्योभवन्ति के द्दहादयः' यह वार्तिक जो कि 'आल्विल्लोल्लालव ल्तेन्तामतुपः' (४-२५) पर है उससे दह और तिअ आदि प्रत्यय होने पर ये रूप बनते हैं।

२३७. तेरह, तेरहोः—

ये दोनों संस्कृत के 'त्रयोदश' से बने हैं जिसका अर्थ १३ है। 'सर्वत्रलवराम् (३-३) से त्र के र् का लोप होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य् का लोप होने 'सन्धावचामज्लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) से यो के ओ का भी लोप होने पर 'एशय्यादिषु' (१-५) से त् के बाद ए होने पर 'संख्यायाञ्च' (२-१४) से द को र् होने पर 'दशादिषु हः' (२-२४) से श् को ह होने पर 'तेरह' रूप बनता है। जहां ओ, का लोप नहीं होतावहाँ तेरहो रूप बनता है।

२३८. तेसिं, ताण—

ये दोनों रूप संस्कृत के क्रमशः तेषाम् तथा तासाम् के बनते हैं। तेसिं में 'आम एसिं' (६-४) से 'एसिं' होने पर तद् के द् का लोप 'अन्त्यहलः' (४-६) से होता है और 'सन्धावचामज्लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से अ का लोप होने पर यह रूप बनता है। ताणं' में 'टामोर्णः' (५-४) से आम् को ण होने पर 'जश्शस्ङस्यांसु वीर्घः' (५-११) से दीर्घ होने पर 'ताण' रूप बनता है।

२३९. तत्तो, तदो—

ये दोनों रूप तद् शब्द से ङसि में बनते हैं। 'त्तोदोङसेः' (६-९) से त्तो दो होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२४०. थिपइ—

संस्कृत में 'तृप तृप्तौ' धातु से तृप्यति रूप बनता है, प्राकृत में उसी का थिपइ बनता है। 'तृपस्थिपः' (८-२२) से थिप होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२४१. देमि, दइस्स—

संस्कृत में दा धातु से वर्तमान काल (लट्) में ददामि रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'देमि' होता है। 'ददातेर्दे दइस्सचूटि' (१२-१४) से 'दे' होने पर 'देमि' बनता है और इसी सूत्र से लृट् में (भविष्यत् काल में) दा धातु से जिसका संस्कृत में दास्यामि बनता है 'दइस्स' होने पर यह रूप बनता है।

२४२. दच्छं—

संस्कृत में 'द्रक्ष्यामि' रूप बनता है। उसी का दच्छं बनता है। 'कृदाश्रु वचिगमि दृशि विदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से दच्छं होने पर यह प्रयोग बनता है।

२४३. दाऊण, दातूनं—

दा धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर संस्कृत में 'दत्वा' रूप बनता है उसी का यह रूप बनता है। 'क्त्वाऊणः (४-२३) से ऊण होने पर 'दाऊण' रूप बनता है। पैशाची प्राकृत में 'क्त्वस्तूनं' (१०-१३) से 'तून' होने पर 'दातूनं' रूप बनता है।

२४४. दाहं—

यह रूप 'दास्यामि' का बनता है 'कृदाश्रुवचि गमिदृशि विदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से 'दाहं' होने पर यह रूप बनता है।

२४५. दिण्णं—

'डुदाञ् दाने' धातु से क्त प्रत्यय के योग में 'दत्तम्' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'दिण्णं' होता है। 'क्तेनदिण्णादयः' (८-६२) से 'दिण्णं' शब्द निपतित होता है।

२४६. दड्ढं—

दह धातु से संस्कृत में 'दग्धं' रूप बनता है उसी का 'क्तेनदिण्णादयः' (८-६२) से 'दड्ढं' यह निपात इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

२४७. दुइअं—

इसकी मूल प्रकृति 'द्वितीयम्' है। 'सर्वत्रलवरां' (३-३) से व् का लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषाबहुलम्' (४-१) से इ को उ होने पर 'कगचजतद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'इदीतः पानीयादिषु' (१-१८) से ई को इ होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः (२-२) से य् का भी लोप होने पर 'सोऽिन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२४८. दो—

संकृत में 'द्वि' शब्द से 'द्वौ' बनता है उसी का प्राकृत में 'दो' रूप होता है। 'द्वेदों' (६-५४) से दो आदेश होने पर यह रूप होता है।

२४९. दोहिं—

द्वि शब्द से भिस् होने पर 'द्वेदों' (६-५४) से दो होने पर 'भिसोहिं' (५-५) से भिस् को 'हिं' होने पर 'दोहिं' रूप बनता है।

२५०. दुवे, दोणि—

ये दोनों रूप भी 'द्वौ' के बनते हैं। 'द्वेर्दुवेदोणिवा' (६-५७) से 'दुवें' तथा 'दोणि' आदेश होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२५१. दोहाइअं, दुहाइअं—

ये दोनों रूप 'द्विधाकृतम्' से बनते हैं। सर्वप्रथम 'ओचद्विधाकृञः' (१-१६) से द्वि की इ को विकल्प से ओ होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से व् का लोप होने पर 'खघथधभांहः' (२-२७) से ध को ह होने पर कृतम् के क तथा त् का लोप 'क ग च ज त द पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से होने पर 'इदेत्यादिषु' (१-२८) से ऋ को इ होने पर 'दोहाइअं' रूप बनत है और जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां 'ओचद्विधाकृञः' (१-१६) इसी सूत्र से द्वि की इ को उ होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'दुहाइअं' रूप बनता है।

२५२. दोहाइज्जइ, दुहाइज्जइ—

ये दोनों रूप 'द्विधाक्रियते' के बनते हैं। इनमें 'क्रियते' के यक् को 'यकईयइज्जौ' (७-८) से इज्ज होने पर 'सन्धावचामज्लोप विशेषाबहुलं' से (४-१) क्रि के इ का लोप होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से क् का लोप होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ते को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं। दोहा तथा दुहा रूप 'दोहाइअं' के समान बनते हैं अर्थात् 'ओचद्विधाकृञः' (१ १६) से

विकल्प से ओ तथा उ होने पर **सर्वत्रलवराम्'** (३-३) से व् का लोप होने पर **'खघथधभां हः'** (२-२७) से ध को ह होने पर दोहा तथा दुहा रूप बनते हैं।

२५३. दूमइ—

'दूङ् परितापे' इस धातु से संस्कृत में दूयते या दूयति रूप बनते हैं उन्हीं का 'दूमइ' रूप बनता है। **'दूङोदूमः'** (८-८) से 'दूम' होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति या ते को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२५४. दे—

दा धातु से ये रूप बनता है। **'ददातेर्देदइस्सलुटि'** (१२-१४) से दे आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२५५. दोण्हं—

द्वि शब्द से आम् विभक्ति में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम **'द्वेर्दो'** (६-५४) से द्वि को दो होने पर **'एषामामोण्ह'** (६-५९) से ण्हं होने पर दोण्हं रूप बनता है।

२५६. धाइ, धाहिइ, धाउ—

'धावु जवे' इस धातु से क्रमशः वर्तमान भविष्यद् तथा विधि आदि में ये तीनों रूप बनते हैं। **खादिधाव्योः खाधौ'** (८-२७) से **'धा'** आदेश होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर **'धाइ'** रूप बनता है। **'धाहिइ'** में **'धातोर्भविष्यतिहि'** (७-१२) से हि होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर **'धाहिइ'** रूप बनता है। धाउ में **'उ सु मु विध्यादिष्वेकस्मिन्'** (७-१८) से उ होने पर **'धाउ'** बनता है।

२५७. धुणइ—

धूञ् कम्पने इस धातु से संस्कृत में 'धुनोति' यह रूप बनता है उसी का **'धुणइ'** रूप बनता है। **'श्रुहुजिलूधुवांणोऽन्त्ये ह्रस्वः'** (८-५६) से ण होता है और धू को धु होता है **'ततिपोरिदेतौ'** से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२५८. धुव्वसि—

यह प्रयोग **'धूयसे'** का बनता है। **'भावकर्मणोर्व्वश्च'** (८-५७) से य को व्व होने पर **'थास्सिपोः सि सेः'** (७-२) से सि होने पर यह प्रयोग बनता है। ह्रस्वः संयोगे (हेमचन्द्र) से ह्रस्व होता है।

२५९. धुव्वइ, धुणिज्जइ—

ये दोनों रूप **'धूयते'** के बनते हैं। **'भाव कर्मणोर्व्वश्च'** (८-५७) से व्व होने पर **'ह्रस्वः संयोगे'** हेमचन्द्र (८-८-२२७) से ह्रस्व होने पर **'ततिपो-**

रिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'धुव्वइ' रूप बनता है। धुणिज्जइ में 'भ्रुहुजिलूधुवांणोऽन्त्ये ह्रस्वः' (२-५६) से ण होने पर 'ए च क्तवा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-३३) से ण को इ होने पर 'मध्येच' (७-२१) से मध्य में ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६०. पखलो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रखलः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६१. पडइ—

इसकी मूल प्रकृति 'पतति' है। 'शद्लूपत्योर्डः' (८-५१) से त को ड होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६२. पडि—

इसकी प्रकृति 'प्रति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'प्रतिसरवेतसपताकासुडः' (२-८) से त को ड होने पर 'पडि' बनता है।

२६३. पढमो—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रथमः' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'प्रथमशिथिल निषधेषुढः' (२-२८) से ढ होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६४. पण्णरहो—

इसकी मूल प्रकृति 'पञ्चदशः' है जिसका अर्थ १५ है। सर्वप्रथम 'म्नज्ञापञ्चाशत् पञ्चदशेषुणः' (३-४४) से ण होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५१) से ण् को द्वित्व होने पर 'सख्यायाञ्च' (२-१४) से द को र होने पर 'दशादिषु हः' (२-४४) से श को ह होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

२६५. पभवइ—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रभवति' है यह रूप भू धातु से बनता है।' प्रादेर्भवः' (८-३) से भू को भव होने पर 'सर्वत्र लवरां' (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६६. पमिल्लइ, पमीलइ—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रमीलति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'ह्रस्वःसंयोगे' (हेमचन्द्र) से मी को मि होने पर 'प्रादेर्मीलः'

(२-५४) से ल को विकल्प से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-६) से ति को इ होने पर यह रूप बनता हैं।

२६७. परिभवइ—

इसका संस्कृत रूप 'परिभवति' बनता है। 'प्रादेर्भवः' (८-३) से भू को भव होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६८. पसूसइ—

इसकी मूल प्रकृति 'प्रशुष्यति' है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से प्र के र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४५) से श् तथा ष् को स होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'रुषादीनां दीर्घता' (७-४६) से उ को ऊ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६९. पवणुद्धअं, पवणउद्धअं—

ये दोनो रूप 'पवनोद्धतम्' के बनते हैं। 'नोणः सर्वत्र' (२-४२) से न को ण होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्' (४-१) से ण के अ का लोप विकल्प से होने पर उद्धत के त का लोप 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-३) से होने पर सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से बिन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२७०. पाइ, पाअइ—

संस्कृत में 'घ्राणन्धग्रहणे' इस धातु से 'जिघ्रति' रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप बनते हैं। 'जिघ्रतेः पा पाऔ' (८-२०) से पा तथा पाअ आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२७१. पालेइ—

संस्कृत में 'पद्यते' का यह रूप बनता है। 'पदेःपालः' (८-१०) से पाल होने पर 'लादेशेवा' (७-३४) से ए होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७२. पिआपिअं—

इसकी मूल प्रकृति 'पीतापीतम्' है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से दोनों त का लोप होने पर 'सन्धावचामज् लोप विशेषाबहुलम्' (४-१) से पी की ई को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२७३. पुलअइ—

इसकी मूल प्रकृति 'पश्यति' है। 'दृशेः पुलअ णिअक्क अवक्खाः' (८-६९) से 'पुलअ' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७४. पुलिशाह, पुलिशस्श—

मागधी प्राकृत में 'पुरुषस्य' के ये दोनों रूप बनते हैं। 'रसोलं शौ' (हेमचन्द्र) के अनुसार र् को ल होने पर 'अत इदेतौलुक्च' (११-१०) से उ को इ होने पर 'षसोः शः' (११-३) से ष को श होने पर 'ङ सो हो वा दीर्घत्वं च' (११-१२) से ङ स् को ह होने पर तथा दीर्घ होने पर 'पुलिशाह' रूप बनता है। पर जिस पक्ष में ङ - स् को ह नहीं होता वहां 'स्सोऽसः' (५-८) से स्स होने पर 'षसोः सः' (११-३) से दोनों स् को श होने पर शेष कार्य पूर्ववत् होने पर 'पुलिशश्श' रूप बनता है।

२७५. पुस्सो, पुसो—

इसकी मूल प्रकृति 'पुष्पः' है। 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'शषो सः' (२-४३) से ष को स् होने पर 'सेवादिषु च' (३-५२) से विकल्प से स् को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर 'पुस्सो' तथा 'पुसो' ये दो रूप बनते हैं।

२७६. पेक्ख, पेक्खइ—

संस्कृत में 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु है उससे पश्यति या प्रेक्षते रूप बनते हैं उन्हीं के शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत में ये रूप बनते हैं। 'दृशेः पेक्खः' (१२-१८) से दृश् को 'पेक्ख' होने पर संस्कृत के 'पश्य' में जिस प्रकार हि का लोप हो जाता है उसी प्रकार शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत होने से 'प्रेक्ख' में भी हि का लोप होने पर 'पश्य' का 'पेक्ख' बनता है और 'पेक्ख इ' में 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'पेक्खइ' रूप बनता है।

२७७. भमइ—

इसकी प्रकृति 'भ्रमति' है। 'शेषाणामदन्ता' (८-७१) से 'भमति' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७८. भरइ—

'स्मृ चिन्तायाम्' इस धातु से संस्कृत में स्मरति रूप बनता है उसी को प्राकृत भाषाओं में 'भरइ' रूप होता है। 'स्मरतेर्भर सुमरौ' (८-१८) से

'भर' आदेश होने पर 'ततियोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२७९. भाइ--

संस्कृत में 'अभीभये' इस धातु से 'बिभेति' तथा 'बिभीते' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं का 'भाइ' प्राकृत भाषाओं में होता है। 'भियो भावी हौ' (८-१९) से 'भा' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'भाइ' रूप सिद्ध होता है।

२८०. भिन्दइ—

'भिदिर्' धातु से संस्कृत में 'भिनत्ति' रूप बनता है उसी का प्राकृत में 'भिन्दइ' रूप है। 'भिदिच्छिदोरन्त्यस्यन्दः' (८-३८) से 'न्द' होने पर 'भिन्द' बनता है फिर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'भिन्दइ' रूप बना है।

२८१. भोत्तूण, भोत्तुं, भोत्तव्वं—

भुज् धातु से क्त्वा, तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्यय में ये तीनों रूप बनते हैं। 'भुजादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोपः' (२-५५) से भुज् के ज का लोप होने पर 'युवर्णस्यगुणः' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से भु के उ को ओ गुण होने पर भो रूप बनता है। 'उपरिलोपः क ग ड तदपषसाम्' (३-१) से क्त्वा के क् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त को द्वित्व होने पर 'क्त्वा ऊणः' (४-२३) से ऊण होने पर 'भोत्तूण' रूप बनता है। भोत्तुं में पूर्ववत् भो होने पर तथा 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'भो बिन्दुः' (४-१२) से विन्दु होने पर 'भोत्तुं' रूप बनता है। 'भोत्तव्वं' में पूर्ववत् भो होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर तथा भो विन्दुः (४-१२) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

२८२. मइ, मए—

अस्मद् शब्द से टा तथा ङि विभक्ति में मया तथा मयि रूप बनते हैं उन्हीं के प्राकृत में ये रूप होते हैं। 'ङौ च मइ मए' (६-४६) से मइ तथा मए होने पर ये रूप बनते हैं।

२८३. मं ममं—

अस्मद् शब्द से अम् विभक्ति में 'म ममं' (६-४२) से मं तथा ममं आदेश होने पर ये रूप बनते हैं।

२८४. मे, ममाइ—

अस्मद् शब्द से आङ् (टा) विभक्ति में 'आङि मे ममाइ' (६-४५) से मे, ममाइ होने पर ये रूप बनते हैं।

२८५. मत्तो, मइत्तो, ममादो, ममादु, ममाहि—

अस्मद् शब्द से ङस् विभक्ति में ये पांचों रूप प्राकृत भाषाओं में बनते हैं। 'मत्तोमइत्तो ममादो ममादु ममाहि ङसौ' (६-४८) से ये पांचों प्रत्यय होने पर तथा अन्त की विभक्ति का लोप होने पर ये रूप बनते है।

२८६. मे, मम, मह, मज्झ—

अस्मद् शब्द से ङ सि विभक्ति (पंचमी के एक बचन) में ये चारों रूप बनते हैं। 'मे मम मह मज्झ ङसि' (६-५०) से ये प्रत्यय होते हैं।

२८७. मज्झणो—

अस्मद् शब्द से आम् (षष्ठी के बहुवचन) में यह रूप होता है। 'मज्झणो अह्म, अह्माणां अह्मे आमि' (६-५१) से 'मज्झणो' आदेश होने पर यह रूप बनता है।

२८८. ममम्मि—

अस्मद् शब्द सेङि विभक्ति में 'ममम्मि' रूप बनता है 'ममम्मि ङौ' (६-५२) से ममम्मि प्रत्यय होने पर यह रूप बनता है।

२८९. मरिसइ—

इसकी प्रकृति 'मृषति' है। 'वृष कृष मृषहृषामृतोऽरिः' (८-११) से ऋ को अरि होने पर 'शषोः सः' (२-४२) से ष को स होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२९०. मरइ

संस्कृत में 'मृ' धातु से 'म्रियते' रूप बनता है इसी का प्राकृत में यह रूप है। 'ऋतोऽरः' (२-१२) से ऋ को अर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२९१. मलइ—

मृद् धातु से संस्कृत में 'मृद्नति' रूप बनता है जिसका अथ धोना होता है उसीका यह रूप बनता है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) से ऋ को अ होने पर 'मृदोलः' (८-५०) से द् को ल होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'मलइ' रूप बनता है।

२६२. महद्धं, महअद्धं—

ये दोनों शब्द ममार्धम् के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। **'मे मम मह मज्झङसि'** (६-५०) से मम को मह होने पर **'सर्वत्रलवराम्'** (३-३) से र् का लोप होने पर **'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्'** (४-१) से विकल्प से अ का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से ध को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व ध् को द् होने पर **'सोर्विन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२६३. म्मिव, मिव—

संस्कृत में **'इव'** निपात **'जैसे'** के रूप में प्रयुक्त होता है उसी के प्राकृत भाषाओं में ये दोनों रूप बनते हैं। **'झिव मिवविआइवार्थे'** (१०-१६) से ये इव अर्थ में निपतित हैं।

२६४. मुणइ—

संस्कृत में ज्ञा धातु में **'जानाति'** रूप बनता है। उसी का **'मुणइ'** भी बनता है **'झोजाणमुणो'** (८-२३) से मुण होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६५. म्हि, म्हो, म्हु, म्ह—

संस्कृत में अस् धातु के अस्मि तथा स्म रूप बनते हैं। (वर्तमान काल में) उन्हीं के प्राकृत भाषाओं में ये रूप बनते हैं। **'मिमो मुमाना मधोहश्च'** (७-७) से ह होता है।

२६६. रम्मइ, रमिज्जइ—

ये रूप **'रम्यते'** से बनते हैं। **'गमादीनां द्वित्वंवा'** (८-५८) से विकल्प से द्वित्व होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने होने पर **'रम्मइ'** रूप बनता है पर जिस पक्ष में द्वित्व नहीं होता वहां **'मध्येच'** (७-२१) से ज्ज होने पर**'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्'** (-१) से इ होने पर **'ततिपो-रिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

२६७. रुन्धइ, रुम्भइ—

ये दोनों रूप **'रुणद्धि'** के बनते हैं। सर्वप्रथम **'रुधेर्न्धम्भौ'** (८-४९) इस सूत्र से अन्त में न्ध तथा म्भ होने पर **ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

२९८. रुवइ—

यह रूप 'रुदति' से बनता है। 'रुदेर्वः' (८-४२) से द को व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

२९९. रूसइ—

यह प्रयोग रुष्यति का बनता है जिसका अर्थ क्रोध करना होता है। 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स् होने पर 'अधोमनयां' (३-२) से य् का लोप होने पर 'स्वादीनांदीर्घता' (८-४६) से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३००. रे—

संस्कृत में भो ! सम्बोधन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'रे' भी होता है। 'रे अरे हिरे संभाषण रतिकलहा क्षेपेषु' (९-१५) से 'रे' निपतित होता है।

३०१. रोच्छं—

'रोदिष्यामि' संस्कृत के इस प्रयोग के लिए 'कृदाश्रु,वचि,गमि,दृशि, विदि रूपाणां काहं दाह सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) इस सूत्र से रोच्छं आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

३०२. रोत्तूण, रोत्तुं, रोत्तव्वं—

रुदिर धातु से क्त्वा, तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्यय होने पर क्रमशः ये तीनों रूप बनते हैं 'भुजादीनां क्त्वातुमुन् तव्येषुलोपः' (८-५८) से दिर का लोप होने पर युवर्णस्यगुणः' (हेमचन्द्र) से रु को रो गुण होने पर 'उपरिलोपः कगडतदपषसाम्' (३-१) से क् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'क्त्वा ऊणः' (४-२३) से ऊण होने पर 'रोत्तूण' रूप बनता है। रोत्तुं में पूर्ववत् रो होने पर और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर 'मोविन्दुः' (४-१२) से विन्दु होने पर 'रोत्तुं' रूप बनता है। 'रोत्तव्वं' में पूर्ववत् रो होने पर 'अधोमनयाम्' (३-२) से य का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर 'मोविन्दु.' (४-१२ से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३०३. रोसाइन्तो—

इसकी प्रकृति 'रोषवत्' है। 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स होने पर 'आल्विल्लोल्लालवन्तेन्तामतुपः' (४-२५) से 'इन्त' होने पर 'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्' (४-१) से दीर्घ होने पर यह रूप बनता है।

३०४. लग्गति—

इनको प्रकृति 'लगति' है। 'शकादीनां द्वित्वम्' (८-५२) से द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३०५. लिज्झइ—

इसकी मूल प्रकृति 'लिह्यते' है। 'लिहेर्लिज्झ' (८-५९) से लिह् को 'लिज्झ' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३०६. लुणइ—

इसकी मूल प्रकृति 'लुनाति' है। सर्वप्रथम 'श्नुहुजिलूधुवांणोऽन्त्ये ह्रस्वः' (८-५६) से अन्त में ण होने पर और लू को लु होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३०७. लुव्वइ, लुणज्जइ—

इसकी मूल प्रकृति 'लूयते' है। 'भावकर्मणोर्व्वश्च' (८-५७) से व्व होने पर तथा ह्रस्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'लुव्वइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ ण होने पर 'मध्येच'(७-२१) से ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'लुणज्जइ' रूप बनता है।

३०८. वअइ—

संस्कृत में 'शक्लृ शक्तौ' धातु से 'शक्नोति' रूप बनता है उसीका 'वअइ' रूप भी प्राकृत भाषाओं में होता है। 'शकेस्तरवअतीराः' (८-७०) से 'वअ' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'वअइ' रूप बनता है।

३०९. वअं—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से जस् विभक्ति में 'वयम्' बनता है उसी का प्राकृत में वअं रूप है। 'अस्मदो जसावअंच' (१२-२५) से 'वअं' होने पर यह रूप बनता है।

३१०. वच्चइ—

इसकी मूल प्रकृति 'व्रजति' है। 'च्चोव्रजनृत्योः' (८-४७) से च्च होने पर तथा 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३११. वज्जइ—

संस्कृत में 'त्रसीउद्वेगे' धातु से 'त्रसति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'वज्जइ' रूप है 'त्रसेर्वज्जः' (८-६६) से त्रस् को वज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने यह रूप बनता है।

३१२. वड्ढइ—

वृधु वर्धने इस धातु से संस्कृत में 'वर्धते' रूप बनता है उसी का प्राकृत में यह रूप है। 'ऋतोऽत्' (१-२७) ऋ को अ होने पर 'वृधेर्ढः' (८-४४) से ध को ढ होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से ढ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व ढ को ड् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३१३. वरइ—

संस्कृत में 'वृञ्वरणे' इस धातु से 'वृणोति' तथा 'वृणुते' ये दोनों रूप बनते हैं उन्ही का 'वरइ' रूप होता है। 'ऋतोऽरः' (८-१२) से वृ को वर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३१४. वले—

संस्कृत में 'अपि' सम्बोधन में निपात होता है उसी के लिये प्राकृत भाषाओं में 'वले' भी प्रयुक्त होता है। 'अइवले संभाषणे' (१०-१२) से यह शब्द निपतित है।

३१५. वाइ, वाअइ—

संस्कृत में 'म्लैहर्षक्षये' इस धातु से 'म्लायति' रूप बनता है उसी के प्राकृत में ये दोनों रूप हैं। 'म्लै वा वाओ' (८-२१) से 'वा' तथा 'वाअ' आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

३१६. वाऊहिं—

संस्कृत के 'वायुभिः' का यह प्रयोग बनता है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) य का लोप होने पर 'सुभिस्सुप्सु दीर्घः' (५-१८) से दीर्घ होने पर 'भिसोहिं' (५-५) से हिं होने पर यह रूप बनता है।

३१७. वाउस्स—

संस्कृत में वायोः के रूप का प्राकृत में यह रूप बनता है। 'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः' (२-२) से य का लोप होने पर 'स्सोऽसः' (५-८) से 'स्स' होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३१८. वाऊदो, वाऊआ वाऊदु, वाऊहि—

वायु शब्द से ङसि में ये रूप बनते हैं। **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से य् का लोप होने पर **'सुभिस्सुप्सु दीर्घः'** (५-१८) से दीर्घ होने पर **'ङसेरादोदुहयः'** (५-६) से आ, दो, दु तथा हि होने पर वाऊआ वाऊदो, वाऊदु तथा वाऊहि ये चारों रूप बनते हैं।

३१९. वाऊओ, वाउणो—

संस्कृत में वायु शब्द से प्रथमा के बहु वचन में जस् विभक्ति आने पर **'वायव.'** यह रूप बनता है। उसी के प्राकृत भाषाओं में ये दोनों रूप होते हैं। सर्वप्रथम **'जसश्च ओ यूत्वम्'** (५-१६) से जस् को ओ होने पर (विकल्प से) और उ को ऊ होने पर **'वाऊओ'** रूप बनता है पर जिस पक्ष में ओ नहीं होता वहां णो होता है और ऊत्व नहीं होता। इस प्रकार **'वाउणो'** रूप बनता है।

३२०. वाउणा—

संस्कृत में वायु शब्द से तृतीया के एक वचन में टा प्रत्यय से **'वायुना'** रूप बनता है। उसी का प्राकृत भाषाओं में **'वाउणा'** रूप होता है। **'टाणा'** (५-१७) से टा को णा होने पर **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से य् का लोप होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३२१. वाहित्तं—

इसकी मूल प्रकृति **'व्याहृतम्'** है जिसका अर्थ **'कह'** है। सर्वप्रथम **'क ग च ज तद पयवां प्रायोलोपः'** (२-२) से य् का लोप होने पर **'इदेद्यादिषु'** (१-२८) से ऋ को इ होने पर **'नीडादिषु'** (३-५२) से त् को द्वित्व होने पर तथा **'सोविन्दुर्नपुंसके'** (५-३०) से विन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

३२२. विअ, वेअ—

अवधारण या निश्चय करने के अर्थ में प्राकृत भाषाओं में **'विआ'** शब्द निपात के रूप में प्रयुक्त होता है। **'विअवेअ अवधारणे'** (९-३) से इस अर्थ में निपतित है। इव के अर्थ में भी यह शब्द निपतित है **म्मिव, मिव-विआ इवार्थे'** (९-१६) से इस अर्थ में निपतित है। शौरसेनी में भी **'इवस्य विअ'** (१२-२४) से यह शब्द निपतित है।

३२३. वि॰केइ, विक्किणइ—

ये दोनों प्रयोग संस्कृत के **'विक्रीणीते'** के स्थान पर बनते हैं जिसका अर्थ बेचना होता है। सर्वप्रथम **'वेः क्के च'** (८-३१) से वि उपसर्ग पूर्वक क्रीञ्

धातु को विकल्प से क्के होता है तथा 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर 'विक्केइ' रूप बनता है पर जिस पक्ष में क्के नहीं होता वहां किण् होता है और 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से क को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३२४. विसइ—

संस्कृत में 'ग्रसुग्लसुअदने' इस धातु से आत्मने पद में 'ग्रसते' तथा 'ग्लसते' ये दो रूप बनते हैं उन्हीं में ग्रस धातु का प्राकृत भाषा में 'विसइ' रूप बनता है। 'ग्रसेर्विसः' (८-२८) से ग्रस के स्थान पर विस आदेश होता है और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३२५. विसूरइ—

संस्कृत में 'खिद् दैन्ये' इस धातु से 'खिद्यते' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषा में 'विसूरइ' रूप प्राप्त होता है। 'खिदेर्विसूरः' (८-६३) से खिद् के स्थान पर 'विसूर' आदेश होता है और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ते को इ होने पर 'विसूरइ' रूप बनता है।

३२६. बीहइ—

संस्कृत में 'भिभीभये' इस धातु से 'बिभेति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'बीहइ' यह रूप होता है। सर्व प्रथम 'भियो भाबी हौ' (८-१९) इस सूत्र से 'बीह' आदेश होता है और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३२७. बुज्झइ—

संस्कृत में 'बुध अवगहने' इस धातु से 'बुध्यते' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'बुज्झइ' रूप बनता है। सर्व प्रथम 'युधि बुध्योर्झः' (८-४८) से बुध के ध् को झ होने पर 'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ' (३-५०) से झ को द्वित्व होने पर 'वर्गेषु युजः पूर्वः' (३-५१) से पूर्व के झ को ज् होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ते को इ होने पर यह रूप बनता है।

३२८. बुट्टइ—

संस्कृत में 'टुमस्जो शुद्धौ' इस धातु से 'मज्जति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में 'बुट्टइ' रूप होता है। सर्व प्रथम 'बुट्ट खुप्पौमस्जेः' (८-६८) से बुट्ट आदेश होता है और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३२९. वेच्छं—

इसकी मूल प्रकृति **'वेत्स्यामि'** है। **'कृदाश्रु वचि गमि दृशि विदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं'** (७-१६) से वेच्छं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

३३०. वेड्ढइ—

संस्कत में **'वेष्ट वेष्टने'** इस धातु से वेष्टते रूप बनता है जिसका अर्थ लपेटना होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम **'वेष्टेइच'** (८-४०) इस सूत्र से ष्ट् को ढ होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से ढ को द्वित्व होने पर **'वर्गेषु युजः पूर्वः'** (३-५१) से पूर्व के ढ् को ड् होने पर **'ततिपोरिदेतौ'** (७-१) से त को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३१. वेत्तूण—

संस्कृत में विद् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर **'विदित्वा'** रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में **'वेत्तूण'** रूप होता है। विद् + क्त्वा इस अवस्था में संस्कृत के अनुरूप इ को गुण होने पर वे होता है तब **'भुजादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषु लोपः'** (८-५५) से द् का लोप होने पर **'उपरिलोपः क ग ड त-द प षसाम्'** (३-१) से क्त्वा के क् का लोप होने पर **'शेषादेशयो द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर क्त्वा के शेष वा को **'क्त्वाऊणः'** (४-२३) से ऊण होने पर **'वेत्तूण'** यह रूप सिद्ध होता है।

३३२. वेत्तुं—

विद् धातु से तुमुन् प्रत्यय के योग में संस्कृत में वेदितुम् रूप बनता है उसी का प्राकृत में वेत्तुं रूप है। सर्वप्रथम गुण होने पर **'भुजादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषुलोपः'** (८-५५) से द् का लोप होने पर **'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ'** (३-५०) से त् को द्वित्व होने पर **'मो बिन्दुः'** (४-१२) से म् को बिन्दु (ं) होने पर यह रूप बनता है।

३३३. वेत्तव्वं—

विद् धातु से तव्यत् प्रत्यय के योग में **'वेदितव्यम्'** रूप बनता है। प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रूप है। सर्वप्रथम संस्कृत के समान गुण होने पर वे हुआ तब **'भुजादीनां क्त्वा तुमुन् तव्येषुलोपः'** (८-५५) से द् का लोप होने पर **'अधोमनयाम्'** (३-२) से य् का लोप होने पर **'शेषादेशयो द्वित्वमनादौ'** (३-५०) से त् तथा व् को द्वित्व होने पर **'मोबिन्दुः'** (४-१२) से म् को बिन्दु होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३४. वेवन्ती, वेवई—

संस्कृत में 'टुवेपृ कम्पने' इस धातु से शतृ प्रत्यय के योग में वेपन्ती' रूप होता है उसी के प्राकृत भाषा में ये दो रूप बनते हैं। 'ई च स्त्रियाम्' (७-११) से ई तथा न्त दो आदेश होते हैं और 'पोवः' (२-१५) से प् को व होने पर ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

३३५. वेवमाणा—

वेपृ धातु से शानच् प्रत्यय के योग में संस्कृत में 'वेपमाना' बनता है उसी का प्राकृत भाषा में यह रूप है। सर्वप्रथम 'ईच स्त्रियाम्' (७-११) से माण आदेश होने पर 'पोवः' (२-१५) से प् को व होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३३६. वोच्छं—

संस्कृत के 'वक्ष्यामि' का यह रूप है। 'कृदाश्रुवचिगमि दृशिविदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से वक्ष्यामि को वोच्छं आदेश होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३३७. शहिदाणि—

संस्कृत में सह धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर 'सोढ्वा' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'षसोः शः' (११-३) से स् को श होने पर 'एच क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७३३) से इ होने पर 'क्त्वो दाणिः' (११-१६) से क्त्वा को 'दाणि' आदेश होने पर 'शहिदाणि' रूप बनता है।

३३८. संवेल्लइ—

यह संस्कृत के 'संवेष्टते' का रूप बनता है। सर्वप्रथम 'उत्समोर्लः' (८-४१) से ष्ट को ल होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' (३-५०) से ल को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३३९. सक्कइ—

संस्कृत की इसकी मूल प्रकृति 'शक्नोति' है। 'शक्लृ शक्तौ' इस धातु से यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'शकादीनां द्वित्वम्' (८-५२) से क् को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३४०. सडइ—

इसकी मूल प्रकृति 'शीयते' है। 'शद्लृ शातने' इस धातु से यह रूप बनता है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'शदसृपत्योर्डः'

(८-५१) से दलू को ड होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह रूप बनता है।

३४१. सरइ—

संस्कृत में 'सृ' धातु से 'सरति' रूप बनता है। उसी का यह रूप प्राकृत भाषाओं में होता है। सर्वप्रथम 'ऋतोऽरः' (८-१२) से ऋ को अर् होने पर सर् होता है तब 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप सि : होता है।

३४२. सुणइ—

संस्कृत में 'श्रुश्रवणे' इस धातु से 'शृणोति' रूप बनता है। उसी का प्राकृत भाषाओं में 'सुणइ' रूप होता है। सर्वप्रथम 'शषोः सः' (२-४३) से श को स् होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'श्रुहुजिलू-धुवां णोऽन्त्ये ह्रस्वः' (८-५६) से ण होने पर 'ततियोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३४३. सव्वे—

सर्व शब्द से जस् विभक्ति में यह रूप बनता है। सर्व+जस् इस अवस्था में 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व् को द्वित्व होने पर यह प्रयोग बनता है। संस्कृत में ,सर्वे' रूप है।

३४४. सव्वस्सि, सव्वम्मि, सव्वत्थ—

सर्व शब्द से ङे विभक्ति में ये तीनों रूप बनते हैं 'ङेःस्सिम्मित्थाः' (६-२) से ङे को स्सिं म्मि तथा त्थ होने पर 'सर्वत्रलवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से व् को द्वित्व होने पर ये प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३४५. सहइ—

संस्कृत में सह धातु से सहते रूप बनता है। उसी का यह रूप है। 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह रूप बनता है।

३४६. सहामि—

संस्कृत में सह धातु से सहे रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में सहामि बनता है। सहधातु से मिप् के स्थान पर 'इट्मिपोमिः' (७-३) से मि होने पर 'अत आ मिपि वा' (७-३०) से आ होने पर सहामि रूप बनता है।

३४७. सहीअइ, सहिज्जइ—

ये दोनों रूप 'सह्यते' के बनते हैं। 'यक, ईअ इज्जौ' (७-८) से यक् के स्थान पर 'ईअ' तथा 'इज्ज' आदेश होते हैं और 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर ये दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

३४८. सिं—

संस्कृत में तद् शब्द से आम् विभक्ति में तेषाम् तथा तासाम् रूप बनते हैं उन्हीं का प्राकृत भाषाओं में 'सिं' रूप भी होता है। 'आमासिं' (६-१२) से 'सिं' आदेश होता है।

३४९. सुत्तो—

यह रूप सुप्तः का बनता है। 'उपरिलोपः क ग च त दप यसाम्' (३-१) से प् का लोप होने पर 'शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ' (३-५०) से त को द्वित्व होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५०. सुपइ—

संस्कृत में मृजू शुद्धौ इस धातु से 'मार्ष्टि' प्रयोग बनता है जिसका अर्थ शुद्ध करना होता है उसी का यह रूप है। 'मृजेर्लुभसुपौ' (८-६७) से सुप आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३५१. सुमरइ—

संस्कृत से स्मृ धातु से स्मरति रुप बनता है। प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रुप है। 'स्मरतेर्भरसुमरौ' (८-१८) से सुमर आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५२. सुव्वइ, सुणिज्जइ—

ये दोनों रुप श्रूयते के बनते हैं। 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स होने पर 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र का लोप होने पर श्रु का सु शेष रहता है तब 'भाव कर्मणोर्व्वश्च' (८-५७) से य का व्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह रुप बनता है। व्व विकल्प से होता है जिस पक्ष में व्व नहीं होता वहाँ ण होता है 'श्रुहु जिलू धुवांणोऽन्त्येह्रस्वः' (८-५६) से ण होने पर 'ए च क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'मध्येच' (७-२१) से ज्ज होकर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर यह रुप बनता है।

३५३. सू—

संस्कृत में कुत्सा या निन्दा के अर्थ में धिक् शब्द का प्रयोग होता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह प्रयोग है। 'सू कुत्सायाम्' (९-१४) से यह शब्द निपात के रूप में है।

३५४. सूसइ—

यह प्रयोग शुष् धातु का है संस्कृत में शुष्यति बनता है। 'शषोः सः' (२-४३) से श् तथा ष् को स् होने पर 'ऋषादीनांदीर्घता' (८-४६) से दीर्घ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३५५. से—

तद् शब्द से ङ स् विभक्ति में संस्कृत में तस्य तथा तस्या रूप बनते हैं। उसी का प्राकृत भाषाओं में 'से' रूप है। 'ङसा से' (६-११) से 'से' आदेश होने पर यह प्रयोग बनता है।

३५६. सोऊण—

श्रु धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर संस्कृत में श्रुत्वा रूप बनता है प्राकृत भाषाओं में उसी का यह रूप है। 'सर्वत्र लवराम्' (३-३) से र् का लोप होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से श् को स् होने पर 'युवर्णस्य गुणः' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से उ को ओ गुण होने पर 'क्त्वा ऊणः' (४-२३) से ऊण आदेश होने पर यह रूप सिद्ध होता है।

३५७. सोच्छं—

यह रूप 'श्रेष्यामि' का बनता है। 'कृदा श्रु वचि गमि दृशि विदि रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं' (७-१६) से सोच्छं आदेश होने पर यह रूप बनता है।

३५८. सोच्छिइ, सोच्छिहिइ—

ये दोनों रूप श्रोष्यति के बनते हैं। 'श्रुवादीना त्रिष्वप्यनुस्वार वर्जं हिलोपश्च वा' (७-१७) से 'सोच्छं' आदेश होने पर 'ए च क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर 'सोच्छिइ' प्रयोग बनता है और पक्ष में 'धातोर्भविष्यति हिः' (७-१२) से हि होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रुप बनता है।

३५९. सोहंति—

इसका संस्कृत रुप शोभन्ते हैं। 'शषोः सः' (२-४३) से श को स होने पर 'ख घ थ ध भां हः' (२-२७) से भ को ह होने पर 'न्ति हेत्था मोमुमा बहुषु'

(७-४) से न्ति होने पर 'यथि तद् वर्गान्तः' (४-१७) से विन्दु होने पर यह रूप बनता है।

३६०. हके, हगे—

संस्कृत में अस्मद् शब्द से सु विभक्ति में अहं रूप बनता है उसी के ये दोनों रूप भी प्राकृत भाषाओं में होते है। 'अस्मदः सौ हके हगे अहके' (११-९) से हके और हगे आदेश होने पर ये दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३६१. हदो—

इसकी मूल प्रकृति हतः है 'ऋत्वादिषु तोदः' (२-७) से त को द होने पर 'अत ओत् सोः' (५-१) से ओ होने पर यह रूप बनता है।

३६२. हं—

यह रूप भी अहं का बनता है। 'अस्मदो हं महमहअं सौ' (६-४०) से हं होने पर यह रूप बनता है।

३६३. हम्मइ—

संस्कृत मे हन् धातु से हन्ति रूप बनता है उसी का यह प्रयोग है। 'हन्तेर्म्मः' (८-४५) से म्म आदेश होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बना है।

३६४. हरिसइ—

संस्कृत में हर्षति और हृष्यति ये दो रूप होते हैं उन्हीं का यह रूप है। 'वृष कृष मृष हृषा मृतोऽरिः' (८-११) से ऋ को अरि होने पर 'शषोः सः' (२-४३) से ष् को स होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३६५. हशिदु, हशिदि—

ये प्रयोग मागधी प्राकृत में हसितः के बनते हैं। 'वसोः शः' (११-३) से स् को श होने पर 'अनादावयुजोस्तथयोर्दधौ' (१२-३) से त को द होने पर 'क्रान्तादुश्च' (११-११) से उ तथा इ होने पर ये दोनों प्रयोग बनते हैं।

३६६. हसई, हसन्ती, हसमाण—

ये तीनों रूप हसन्ती के बनते हैं। 'ई च स्त्रियाम्' (७-११) से ई, न्त, माण आदेश होने पर ये तीनों रूप बनते हैं।

३६७. हस्सइ, हसिज्जइ—

'हस्यते' के ये दो रूप बनते हैं। 'गमादीनां द्वित्वं वा' (८-५८) से स् को द्वित्व होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-५) से त को इ होने पर 'हस्सइ' रूप बनता है और पक्ष में 'ए च क्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'मध्ये च' (७-२१) से ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर हसिज्जइ रूप बनता है।

३६८. हसह—

संस्कृत के हसथ का यह रूप है। 'न्ति हे त्था मो मुमा बहुषु' (७-४) से ह होने पर यह रूप बनता है।

३६९. होहिइ—

यह रूप संस्कृत के 'भविष्यति' का बनता है। 'भुवो हो हुवो' (८-१) से भू को हो होने पर 'धातोर्भविष्यतिहिः' (७-१२) से हि होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से इ होने पर यह रूप बनता है।

३७०. हसिहिइ—

यह रूप 'हसिष्यति' का बनता है। 'धातोर्भविष्यतिहिः' (७-१२) से हि होने पर 'ए च क्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'ततियोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह रूप बनता है।

३७१. होहिस्सा, होहित्था—

ये दोनों रूप भविष्यामः के बनते हैं। सर्वप्रथम भू के स्थान पर 'भुवो हो हुवो' (८-१) से हो जाने पर 'मोमुमैर्हिस्सा हित्था' (७-१५) से हिस्सा तथा हित्था होने पर ये दोनों रूप बनते हैं।

३७२. हसिहिस्सा, हसिहित्था—

ये दोनों प्रयोग हसिष्यामः के बनते हैं। हस् धातु से 'एच क्वा तुमुन् तव्यभविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'मोमुमैर्हिस्सा हित्था' (७-१५) से हिस्सा तथा हित्था आदेश होने पर ये दोनों प्रयोग बनते।

३७३. हिरे—

यह निपात है। संभाषण रति, कलह, आक्षेप आदि में इसका प्रयोग होता है 'रे अरे हिरे संभाषण रतिकलहाक्षेपेषु' (९-१५) से यह शब्द निपतित होता है।

३७४. हीरइ—

संस्कृत में 'ह्रियते' इस प्रयोग का प्राकृत भाषाओं में यह प्रयोग बनता है। 'ह्र ओ हीर कीरौ' (८-६०) से ह्र को हीर होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३७५. हुं—

यह निपात है और प्राकृत भाषाओं में यह 'हुं दान पृच्छा निर्धारणेषु' (९-२) इस सूत्र से दान, पूछना तथा निर्धारण (निश्चय) अर्थों में तथा 'हुं खलु निश्चय वितर्क सम्भावनेषु' (७-६) से निश्चय, वितर्क तथा संभावना अर्थों में इसका प्रयोग होता है।

३७६. हुअं—

यह प्रयोग भू धातु से क्त प्रत्यय के योग में संस्कृत के भूतम् के स्थान पर प्राकृत भाषाओं में प्रयुक्त होता है। 'क्ते हुः' (८-२) से भू को हु होने पर 'क ग च ज तद यपवां प्रायो लोपः' (२-२) से त् का लोप होने पर 'सोर्विन्दुर्नपुंसके' (५-३०) से म् को विन्दु (ं) होने पर यह प्रयोग बनता है।

३७७. हुणइ—

संस्कृत में हु धातु से 'जुहोति' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। 'श्रु हु जिलू धुवांणोऽन्त्ये ह्रस्व' (२-५६) से ण होने पर 'ततिपोरिदेनौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग होता है।

३७८. हुव्वइ, हुणिज्जइ—

संस्कृत में हू धातु का भाव तथा कर्म वाच्य में हूयते प्रयोग बनता है उसी के ये दोनों प्रयोग प्राकृत भाषाओं में होते हैं। 'भावकर्मणोर्व्वश्च' (८-५७) से 'व्व' होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से त को इ होने पर हुव्वइ होता है और 'श्रु हु जि लू धुवां णोऽन्त्ये ह्रस्वः' (८-५६) से ण होने पर 'ए च क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु' (७-३३) से इ होने पर 'मध्ये च' (७-२१) से ज्ज होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से अन्त मे त को इ होने पर 'हुणिज्जइ' रूप बनता है।

३७९. हुवइ—

संस्कृत में भू धातु का 'भवति' रूप बनता है उसी का यह प्राकृत प्रयोग है। 'मुमो हो हुवो' (८-१) से हुव होने पर 'ततिपोरिदेतौ' (७-१) से ति को इ होने पर 'हुवइ' प्रयोग सिद्ध होता है।

३८०. हुवीअ—

संस्कृत में भू धातु से भूतकाल में 'अभवत्' रूप बनता है उसी का प्राकृत भाषाओं में यह रूप है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवो' (८-१) से भू को हुव आदेश होने पर 'ईअ भूते' (७-२३) से 'ई अ' आदेश होने पर 'हुवीअ' यह प्रयोग सिद्ध होता है।

३८१. हुवसु—

संस्कृत में भू धातु से लोट् लकार में सिप् प्रत्यय के योग में 'भव' रूप बनता है उसी का यह प्रयोग है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवो' (८-१) से हुव आदेश होने पर 'उसुमुविध्यादिष्वेकस्मिन्' (७-१२) से सिप् के स्थान पर 'सु' होने पर 'हुवसु' यह रूप बनता है।

३८२. होइ—

संस्कृत में भू धातु से लट् लकार में तिप् प्रत्यय के योग में 'भवति' रूप बनता है उसी का यह प्राकृत रूप है। सर्वप्रथम 'भुवो हो हुवो' (२-१) से 'हो' होने पर 'ततिपोरिदैतौ' (७-१) से ति को इ होने पर यह प्रयोग बनता है।

३८३. वियले—

संस्कृत 'विजलः' का यह प्राकृत रूप है। 'जोयः' (११-४) से ज को य होने पर 'पलि च ए' (हेमचन्द्र) इस सूत्र से ए होने पर 'वियले' रूप बनता है।

प्राकृत भाषाओं का उद्भव, वैशिष्ट्य एवं साहित्य

प्रारम्भिक प्रकरणों में प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में कुछ विवेचन हो चुका है। यह निश्चय है कि प्रायः भारतीय विद्वानों की सम्मति में प्राकृत भाषाओं ने अपनी मूल प्रकृति संस्कृत को विस्मृत नहीं किया है और संस्कृत से ही जहाँ अन्य देशी अपभ्रंश भाषाओं का पारम्पर्य सम्बन्ध से विकास हुआ है वहाँ प्राकृत भाषाओं का भी संस्कृत से ही उद्भव हुआ है और वे ही प्राकृतें बौद्ध तथा जैन राजाओं तथा विद्वानों के आश्रय से लोक या प्राकृत जन साधारण में भी प्रवृत्त होगईं।

प्राकृतों का उपलब्ध साहित्य ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी से ही उपलब्ध होता है। ब्राह्मण धर्म के प्रति जो एक विशिष्ट विरुद्ध प्रतिक्रिया बौद्धों तथा जैनों द्वारा प्रचलित की गई थी उसका रूप केवल धार्मिक क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहा। जहाँ वेदों, यज्ञों, कर्मकाण्डों आदि के प्रति अनास्था दिखलाई गई वहाँ तीर्थ, व्रत, स्नान, श्राद्ध, तर्पण आदि विधियों के विरोध में भी जैनियों तथा बौद्धों ने स्पष्ट रूप से खण्डनात्मक दिशा का अवलम्बन लिया और जन्मजात वर्ण-व्यवस्था का भी खण्डन किया गया। जैन धर्म के पुराणों में तो राम तथा कृष्ण पर भी तरह-तरह की नवीन तथा अद्भुत कल्पनायें की गईं जैसे राम ने बनवास के समय अपने आठ विवाह तथा लक्ष्मण ने १३ विवाह किए। सुग्रीव की कन्याओं से भी इनके विवाह हुए और अयोध्या लौटने पर राम के राज्य करने पर रामचन्द्र के ८०० तथा लक्ष्मण के १३०० स्त्रियां थीं आदि आदि बातें जैनियों ने अपने ग्रन्थों (देखिये पउम चरिउं) में लिखीं।

इस प्रकार सामान्य रूप से ब्राह्मण या वैदिक धर्म के प्रति विद्वेष तथा अनास्था की भावना ही इन धर्मों के अनुयाइयों में रही। उसी के फलस्वरूप ब्राह्मणों तथा वेदों की भाषा तथा साहित्य के प्रति भी उनकी विरोध सम्बन्धिनी प्रतिक्रिया परिपुष्ट होती रही और प्रायः जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत में लिखना पढ़ना भी समाप्त कर दिया। संस्कृत भाषा के

विद्यमान होने पर भी तथा संस्कृत को जानने पर भी इन भिक्षुओं तथा विद्वानों ने संस्कृत को प्रश्रय नहीं दिया और अपने देश में प्रचलित प्राकृत का ही समाश्रय लिया। जैन तथा बौद्ध साहित्य में अत्यन्त अल्प ग्रन्थ ही संस्कृत में उपलब्ध होते हैं इसका कारण केवल संस्कृत की क्लिष्टता ही नहीं है अपितु वह प्रतिक्रिया है जो उन पंडितों में स्वाभाविक रूप से वैदिक या ब्राह्मण धर्म के विरोध में थी।

इस प्रकार ईसवी दूसरी शताब्दी पूर्व से विक्रम की ७वीं या ८वीं शताब्दी तक इन प्राकृतों का साहित्य निर्मित हुआ और उसके भिन्न-भिन्न रूप भी प्राप्त हुए।

वैदेशिक विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं के कुछ थोड़े से शब्दों की केवल वाह्य बनावट को देखकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्राकृत का विशिष्ट सम्बन्ध वैदिक भाषा से है न कि संस्कृत भाषा से और इस प्रकार उन्होंने संस्कृत का या वैदिक भाषा का भी उद्गम जन साधारण में प्रचलित प्राकृत भाषाओं से ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। कुछ थोड़े से विकल्पों जैसे देवाः देवेभिः, स्कम्भ खम्भ, उच्चा नीचा आदि को देखकर ही यह विद्वान यह मानते हैं कि आर्यों ने यहाँ बसने पर जो भाषा यहाँ पर प्रचलित थी उसी का परिष्कार कर वैदिक तथा संस्कृत की रचना की है। वे इस बात को मानना भी नहीं चाहते कि संस्कृत जैसी सुगठित पूर्ण तथा व्यवस्थित भाषा भी आर्य लोग निर्मित कर सके होंगे क्योंकि उन्होंने प्राकृत भाषा को ही संस्कृत रूप दिया।

वैदिक भाषा तथा संस्कृत भाषा की अनुरूपता सर्व जन अनुमोदित है। ९५ प्रतिशत शब्दावली (कृदन्त तथा तद्धित) दोनों के समान हैं। आख्यात, उपसर्ग तथा निपातों में भी इतना ही साम्य है। हां कुछ स्थलों में परिवर्तन अवश्य है और वह परिवर्तन संस्कृत के लोक भाषा होने के परिणाम रूप होने से ही है। प्राकृत का वैदिक भाषा के शब्दों से साम्य एक या दो प्रतिशत से अधिक नहीं है तब इस अवस्था में प्राकृतों की घनिष्टता वैदिक भाषा से नहीं हो सकती हाँ, हो सकता है कि उत्तरकाल में वैदिक पदावली भी प्राकृतों में समाविष्ट हो गई हो पर व्यापकता तो वैदिक भाषा में संस्कृत की है न कि प्राकृतों की।

वेदों के सम्बन्ध में निघण्टु प्रामाणिक शब्दकोष है उसके अध्ययन से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि उसमें प्राकृतों में प्रचलित प्रयोग नहीं के बराबर हैं पर संस्कृत के प्रायः शत प्रतिशत। फिर प्राकृतों का सम्बन्ध

परम्परा से तो वैदिक से हो सकता है (संस्कृत के द्वारा) पर मौलिक रूप से नहीं।

वेदों के शब्दों का निर्वचन निरुक्त में हुआ है। उसकी निर्वचनप्रक्रिया भी संस्कृत के जितनी अनुरूप है उतनी प्राकृतों से नहीं। कोई भी ऐसा व्याकरण नहीं है जिसमें वैदिक शब्दों की रूप-सिद्धि उस समय प्रचलित प्राकृत भाषाओं से की गई हो। कोई तो व्याकरण का ऐसा ग्रन्थ होना चाहिए था जो कि यह बतलाता कि संस्कृत या वैदिक भाषा के शब्द प्राकृत भाषाओं से इस प्रकार बने। उदाहरण के लिए—वैदिक तथा संस्कृत भाषा में 'भूतम्' का प्रयोग मिलता है जिसका प्राकृत रूप 'हुआ है। हुआ से भूतम् कैसे बन गया या ग्यारह से एकादश या बारह से' द्वादश कैसे बन गये इसका कोई तो नियम वैदिक या संस्कृत भाषाओं में मिलना चाहिए था पर कोई भी ऐसा व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। हां वैदिक अथवा संस्कृत के भूतम् से हुआ कैसे बना एकादश तथा द्वादश अथवा विद्या से विज्जा रूप बनने की प्रक्रिया तो प्राप्त होती है और प्राकृत सर्वस्व प्राकृत प्रकाश, सिद्ध हेमचन्द्र आदि ग्रन्थों में इसका स्पष्ट उल्लेख है। तब यह सत्य है कि वैदिक तथा संस्कृत भाषाओं के उत्तर ही प्राकृतों का विकास हुआ न कि पूर्व।

प्राकृतों के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। मागधी, अर्धमागधी शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि। प्रश्न यह है कि वैदिक तथा संस्कृत का विकास इन प्राकृतों में से किस प्राकृत से हुआ कोई भी उपलब्ध व्याकरण इस बात की पुष्टि नहीं करता कि एक ही रूप से सम्पूर्ण भारत में व्याप्त संस्कृत या वैदिक भाषा का उद्भव किसी एक ही प्राकृत से हुआ हो जब प्राकृतों के अनेक रूप भारत में यत्र तत्र प्रचलित थे। संस्कृत के भी भिन्न-भिन्न रूप होने चाहिये थे पर ऐसा नहीं हैं। काश्मीर, अवन्ती तथा दक्षिण भारत में एवं गुजरात, उड़ीसा तथा बंगाल में संस्कृत की एक रूपता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इसका उद्भव प्राकृतों से नहीं हो सकता किसी एक मूल की ही विभिन्न शाखाएं हो सकती हैं न कि विभिन्न शाखाओं से एक मूल की उत्पत्ति हो सके। यह साधारण सा तर्क भी प्राकृत भाषाओं को संस्कृत तथा वैदिक की मूलरूपा प्रतिपादित करने वालों के समक्ष अवश्य होना चाहिये।

संस्कृत भाषा में प्राकृतों का प्रयोग नाटकों में प्रधान रूप से उपलब्ध होता है। संस्कृत के इन नाटकों में ईसा की द्वितीय शताब्दी से लेकर

१५वीं तथा १६वीं शताब्दी तक सभी में प्राकृत भाषाओं का व्यवहार किया गया है पर पात्रों के विचार से इनका प्रयोग स्त्रियों, मध्य श्रेणी के व्यक्ति तथा विदूषक आदि के द्वारा ही हुआ है। उच्च वर्ग के लोगों ने इसका प्रयोग नहीं किया है। क्यों ? यदि संस्कृत तथा वैदिक भाषाओं का मूल स्रोत प्राकृत भाषायें होती तो निस्सन्देह उनका वैशिष्टय होता और सर्व साधारण में प्रचलित होने के कारण उनके प्रयोग में किसी भी प्रकार का संकोच न होता क्योंकि वे ही भाषायें लालित्य पूर्ण तथा मनोहर भी थीं जैसा कि 'अहो तत् प्राकृतं हारि' आदि बचनों में स्पष्ट हैं। फिर ऊनको हीन दृष्टि से क्यों देखा गमा। महाभाष्यकार ने प्राकृतों तथा अन्य देशी शब्दों को अपशब्द अथवा अपभ्रंश के नाम से व्यवहृत किया है। "भूयांसो अपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः एकैकस्यशब्दस्यबहवोऽपभ्रंशाः"। इससे प्रतीत होता है कि महाभाष्यकार प्राकृतों से संस्कृत का उद्गम नहीं स्वीकार करते। हस्त से हत्थ या हाथ, विद्या से विज्जो, वृश्चिक से विच्छूओ शय्या से सेज्जा (सेज) आदि का रूप परिवर्तन तो समझ में आता है पर हत्थ के त्थ को संस्कृत में स्त किस सूत्र अथवा नियम से हुआ अथवा विज्जा के ज्जा के स्थान पर विद्या का द्या कैसे हो गया इस नियम के निर्देशक संस्कृत व्याकरण मे कोई भी तथा किसी के भी सूत्र नहीं है फिर शास्त्रीय प्रमाण न होने पर स्वयं केवल कोरी कल्पनाओं से यह सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लेना कि संस्कृत ने प्राकृतों से अपना रूप ग्रहण किया भाषाओं के साथ तथा उनके नियमों के साथ अत्याचार करना है।

रूप, ध्वनि, व्याकरण, स्वर की साम्यता तथा अनुरूपता से वैदिक तथा संस्कृत भाषा में जितना साम्य है उतना प्रतिशत साम्य वैदिक तथा प्राकृत में नहीं है। हां संस्कृत से प्राकृत रूपों की अथवा देशी भाषा के रूपों की तद्भवता अधिक रूपों में उपलब्ध होती है। धम्म से धर्म नहीं पर धर्म से धम्म, पत्ता से पत्र नहीं पर पत्र से पत्ता (स्वर भक्ति) का परिवर्तन बुद्धि संगत है।

भाषा विज्ञान के आधार पर प्रायः भाषायें स्वयं या स्वाभाविक रूप से क्लिष्टता से सरलता की ओर प्रवृत्त होती हैं न कि सरलता से क्लिष्टता की ओर। वे समस्त से व्यस्त होना चाहती हैं। क्रिसान्दर से वैश्वानर नहीं पर वैश्वानर से ही क्रिसान्दर हो सकता है। प्राकृत रुपों से (अपभ्रंश या अपशब्द) संस्कृत का विकास मानने पर तो लाटकमण्डल से लॉर्ड्स, कमॉन्डर, लपटन से लेफ्टिनेन्ट, खलासी से क्लास सी की उलटी

गंगा बहानी पड़ेगी। प्राकृतों के मज्झ से मध्यं भिगो से भृङ्गः मउड़ से मुकुटम् लट्ठी से यष्टिः लच्छी से लक्ष्मी, णेड्डा से निद्रा, जूज्झइ से युद्ध्यते, कज्जा से कन्या की रूप उपपत्ति स्वीकार करनी होगी जो कि परम्परा प्राप्त भाषाओं के विकास के नियमों में अवश्य बाधिका है। फिर प्राकृतों का तो यह गौरव है कि उन्होंने साधारण जनता के हाथों में जाने पर भी अपनी मूल प्रकृति को नहीं छोड़ा और साथ ही साथ जिन शब्दों की संस्कृत प्रकृति नहीं भी थी उनको भी आगे चलकर देशी तथा अपभ्रंश शब्दों के रूप में अपने में मिला लिया। परिणामतः सोने से बने आभूषण भी तो मूल्य में सोने से अधिक होते ही हैं अतः प्राकृतों का यही मूल्य है कि उनमें भाषाओं की सजीवता तथा सक्रियता निहित है संस्कृत के समान निहत नहीं हो गई है।

यह कहना कि संस्कृत के अन्दर बहुत से विकारी तथा अन्य प्रान्तों तथा देशों के शब्द हैं और इसलिये संस्कृत भी एक मिश्रित भाषा है ठीक ही है पर इससे संस्कृत के स्वरूप में तथा उसके महत्व में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आता। संस्कृत की न्यूनताओं की पूर्ति के ही लिये तो समय समय पर वार्तिक सूत्र, परिभाषा सूत्र, गण सूत्र तथा महाभाष्यकार की इष्टियां बनाई गईं। अन्य शब्दों को भी गणों में समन्वित करके संस्कृत ने उदारता का परिचय दिया। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में प्रयुक्त शब्दों को संस्कृतवत् बनाने का कार्य पाणिनि तथा उनके उत्तरकाल में होता ही रहा तब उन शब्दों को संस्कृत में देखकर यह अनुमान करना कि संस्कृत ने अपना रूप प्राकृत के द्वारा ग्रहण किया बुद्धि का द्रविड़ प्राणायाम ही है। शाक लशुनकाः, चक्कन, स्नात्वी, पीत्वी, पिचण्ड, इर्गल, कुल्माष, उम्भि कच्छूल, सैकपत, वाकिन, गौद्रेर, मकण्टु, अररक आदि अनेक शब्द गणों में हैं वे भी संस्कृत के अनुरूप ही मान लिये गये हैं। क्योंकि पाणिनि के समय में भी शब्दों के महासागर के सभी शब्द संस्कृत के नियमों से सिद्ध नहीं होते थे पर उनको भी संस्कृत के अनुरूप स्वीकृत कर लिया गया था। अतः केवल मात्र इन शब्दों की स्थिति से संस्कृत को प्राकृतमूला कहना भ्रान्ति ही है। अतः प्राकृत प्रकाश, प्राकृत सर्वस्व, अथा सिद्ध हेमचन्द्र आदि विद्वानों के आधार पर हमारा भी विचार है कि प्राकृतों की मूल भूता संस्कृत ही है।

इस प्रकरण में प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताओं का पाठकों की सुविधा के लिये प्रतिपादन करना अनुचित नहीं होगा क्योंकि इन विशेषताओं से उस सामान्य विचारधारा का प्रदर्शन होता है जिससे यह

सरलता से जाना जा सकता है कि किस प्रकार संस्कृत की विलष्टता तथा अनेक रूपता के स्थान पर सरलता तथा एक रूपता लाने का उद्योग किया गया।

संस्कृत में स्वरों के कारण जो उच्चारण में कठिनता तथा असौकर्य था उसको भी मुख सुख की दृष्टि से सरल किया गया और संस्कृत में मूल स्वरों के स्थान पर ऐसे स्वर रखे गये जिनके सहयोग से उस शब्द का उच्चारण सरलता पूर्वक हो सकता था। संक्षेप से प्राकृत भाषाओं में स्वरों में इस प्रकार के परिवर्तन प्राप्त होते हैं

१—अनेक शब्दों में संस्कृत की 'अ' की ध्वनि 'आ' में परिवर्तित कर दी गई। जैसे—समृद्धिः....सामिद्धी, मनस्विनी ...माणंसिणी, प्रकटं....पाअड, प्रतिषिद्धिः....पाडिसिद्धी, प्रसुप्त....पासुत्तं, अदयः.... आसो, प्रसिद्धिः....पासिद्धी।

२—शब्द की आदि 'अ' की ध्वनि को 'इ' भी हो जाता है। जैसे—पक्वम्....पिक्कं, असि....इसि, स्वप्नः... सिविणो, व्यजनम्... विअणो, म्लानम्....मिलानं, मृगाङ्कः....मिअंको, मृदङ्गः.. मिइंगो।

३—शब्दों के प्रारम्भ का 'अ' कहीं-कहीं 'ए' में परिवर्तित होता है। जैसे—शय्या....सेज्जा, सुन्दरम्....सुंदेरं, उत्करः....उक्केरो, आश्चर्य.... अच्छेरं, त्रयोदश....तेरह, वल्ली....वेल्ली, पर्यन्तम्... पेरन्तम्।

४—आदि 'अ' को 'ओ' भी होता है। जैसे—बदरं....बोरं, नवमल्लिका ....णोमल्लिआ, लवणम्....लोणं, मयूरः...मोरो, मयूखः...मोरवो, चतुर्थी....चोत्थी, चतुर्दशी....चोद्दही।

५—कहीं कहीं दीर्घ 'आ' को ध्वनि 'अ' में परिवर्तित होती है: जैसे तथा....तह, यथा....जह, प्रस्तरः पत्थरो प्राकृतम्....प उ अं चामरं ....चमरं, प्रहारः....पहरो, चाटु....चडु, दावाग्नि....दवग्गी।

६—'आ' की ध्वनि 'इ' में परिवर्तित होती है। जैसे—सदा....सइ, तदा....तइ, यदा ...जइ।

७—'इ' की ध्वनियां 'ए' में भी परिवर्तित होती हैं। जैसे—पिण्डं.... पेण्डं, निद्रा....णेद्दा, सिन्दूरम्....सेंदूरं, धम्मिल्लं....धम्मेलं, चिन्हम् ....चेंधं, विष्णुः ...वेण्हू, पिष्टम्....पेट्ठं।

८—'इ' का परिवर्तन 'अ' में भी कहीं-कहीं होता है। जैसे—पथि.... पहो, पृथिवी ...पहवी, हरिद्रा....हलद्दा।

९—'इ' को 'उ' भी होता है। इक्षु ...उच्छु, वृश्चिकः....विच्छुओ।

१०—'इ' को 'ई' (दीर्घध्वनि) भी होती है। सिंहः....सीहो, जिह्वा.... जीहा, विश्वस्तः, बीसत्थो, विस्रम्भः....वीसंभो।

११—'ई' को कहीं कहीं 'इ' भी होता है। पानीयम्....पाणिअं, अलीकम्....अलिअं, व्यलीकम्....वलिअं, तदानीम्....तआणिं, द्वितीयम्.... दुइअं, तृतीयम्....तइअं, गभीरः....गहिरं।

१२—'ई' की ध्वनि को 'ए' ध्वनियां भी होती है। नीडम्....णेडं, आपीडम्....आमेलो कीदृग्....केरिसो, ईदृग्....एरिसो।

१३—'उ' को 'ओ' भी होता है। तुण्डम्....तोण्डं, मुक्ता....मोत्ता, पुष्करः ....पोक्खरो, पुस्तकम् ...पोत्थओ, लुब्धकः....लोद्धओ,।

१४—'उ' की ध्वनि 'अ' की ध्वनि में परिवर्तित होती है। मुकुटम्.... मउडं, मुकुलं....मउलं, गुरु....गरुअं, गुर्वी....गरुई।

१५—पदों के प्रारम्भ का 'ऋ' वर्ण 'अ' में परिवर्तित होता है। तृणम् ....तणं, घृणा....घणा, मृतम....मअं, कृतम्....कअं, वृषभः....वसहो।

१६—पदों के आदि का ऋकार इकार में भी बदलता है। शृंगारः....सिङ्गारो, ऋषिः....इसी, गृष्टिः....गिट्ठी, दृष्टिः....दिट्ठी सृष्टिः....सिट्ठी, शृंगारः....सिंगारो, मृगाङ्कः....मिअंको, भृङ्गः.... भिङ्गो हृदयम्....हिअअं।

१७—किन्हीं पदों में आदि के 'ऋ' को 'उ' हो जाता है। ऋतु....उडू, मृणालः...मुणालो, पृथिवी....पुहवी, प्रवृत्ति....पउत्ती, निवृत.... णिउदं, वृत्तान्त... वुत्तंतो।

१८—पदों के आदि के 'ऋ' को 'रि' भी होता है। ऋणम्....रिणम्, ऋद्धः....रिद्धो, ऋक्षः....रिच्छो।

१९—पदों के आदि के 'ऐ' को 'ए' भी होता है। शैलः....सेलो, शैत्यं.... सेच्चं, ऐरावणः....एराबणो, कैलासोः...केलासो, त्रैलोक्यम्.... तेल्लोकं।

२०—पदों के आदि के 'ए' को 'अइ' (द्विस्वरता) होता है। दैत्यः....दइच्चो, चैत्रः....चइत्तो, भैरवः....भइरवो, वैरं....वइरं, वैदेशः....बइदेसो, वैदेहः...बइदेहो, कैतवः....कइअवो, वैशाखः.... वइसाहो।

२१—पदों के आदि के 'औ' की ध्वनि 'ओ' में परिवर्तित होती है। कौमुदी....कोमुई, यौवनम्....जोव्वणं, कौस्तुभः....कोत्थु हो, कौशाम्बी ....कोसंबी।

२२—'औ' को 'अ उ' (द्विस्वरता) भी होता है। पौरः....पउरो, कौरवः ....कउरवो, पौरुषः....पउरिसो।

२३—'औ' की ध्वनि को 'उ' हो जाता है।

सौन्दर्यम्... सुन्देरं, मौञ्जायनः....मुञ्जाअणो, शौण्डः... सुण्डो कौक्षेयकः ....कुक्खेअओ, दौवारिकः....दुव्वारिओ

इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं में संस्कृत भाषा के स्वरों का प्रायः परिवर्तन हो गया है। विशिष्ट शब्दों में भी विशिष्ट परिवर्तन हुए जैसे—गौरवम् का गारवम्, धैर्यम् का धीरम्, सैन्धव का सिन्धव, वेदना का विअणा, देवर का दिअरा नूपुर का णेउरं, सिंह का सीहो, जिह्वा का जीहा। इस प्रकार उच्चारण के सौकर्य तथा क्लिष्टता के परिहार की दृष्टि से स्वरों में परिवर्तन किये गये।

न केवल स्वरों में पर वर्णों तथा संयुक्त अक्षरों में भी परिवर्तन किये गये, यहां तक कि शब्दों के बहुत से व्यञ्जनों का लोप भी प्राकृतों में होगया। असंयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्तनों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

क, ग, च, ज, त, द, प, य अक्षरों का प्रायः लोप हो जाता है। जैसे मुकुल .... मउलो, नकुल .... णउलं, सागरः....साअरो, नगरं .... णअरं सूची .... सुई, गजः .... गओ, रजत .... रअदं, कृत .... कअं, वितानम् .... विआणं, गदा .... गओ, मनः .... मओ, कपि .... कई, विपुलम् ... विउलं, वायुः .... वाऊ, नयनं .... णअणं, जीवम् .... जीअम्, दिवसम् .... दिअहो आदि।

इसी प्रकार विशिष्ट शब्दों में विशेष परिवर्तन प्राकृत भाषाओं में कर दिये गये। जैसे यमुना के म का लोप हो कर जउणा।

स्फटिक निकष तथा चिकुर शब्दों में क के स्थान पर ह की ध्वनि इ होगई और फलिहो, णिहसो तथा चिहुरो रूप बने। शीकर शब्द के क को भ हो कर सीभरो रूप बनता है। चन्द्रिका के क को म होकर चंदिमा रूप बनता है। इसी प्रकार कहीं-कहीं संस्कृत के त को द भी होता है जैसे ऋतु का उदू, रजतं का रअदं, आगत का आअदो, सुकृति का सुइदी, हतः का हदो सम्प्रति का संयदि आदि।

त की ध्वनि ड में परिवर्तित होती है जैसे प्रतिसर .... पडिसो, वेतसः .... वेडिसो, पताका .... पडाआ। यही त की ध्वनि वसति तथा भरत शब्दों में ह में परिवर्तित हो जाती है और क्रमशः वहती और भरहः रूप

बनते हैं। गर्भित की त ध्वनि ण में हो कर गब्भिणं रूप बनाती है। ऐरावत का इसी प्रकार एरावणो बनता है। द का ल भी होती है जैसे प्रदीप्त का पलित्तं, कदम्ब का कलंबो, दोहदः का दोहलो। द को र भी होता है जैसे गद्गदः का गग्गरो, एकादश का एआरह, द्वादश से बारह, त्रयोदश से तेरह आदि। प् की ध्वनि व में परिवर्तित होती है जैसे शापः .... सावो, शपथः ... सवहो, य को ज्ज भी होता है। रमणीयम्....रमणिज्जं, उत्तरीयम्....उत्तरिज्जं भरणीयभ्....भरणिज्जं आदि। छाया के य को ह हो कर छाहा प्रयोग होता है। ट की ध्वनि ड में परिवर्तित हो जाती है जैसे नटः .... णडो, विटपः .... विडवो। यही ट की ध्वनि सटा, शकट तथा कैटभ शब्दों में ढ के रूप में होती है और क्रमशः सढा, सअढो और केढवो रूप बनते हैं। ड को ल भी होता है जैसे दाडिम का दालिमं, तडागं का तलाअं। ठ को ढ होता है जैसे मठः का मढं, जठरं का जढरं कठोरं का कढोरं। फ की ध्वनि भ में परिवर्तित होती है जैसे शिफा .... सिभा, शेफालिका .... सेभालिआ, शफरी .... सभरी आदि।

पदों के मध्य में यदि ख, घ, थ, ध और भ ध्वनियों को प्राकृत भाषाओं में प्रायः ह हो जाता है क्योंकि ये महा प्राण ध्वनियां हैं तथा कहने तथा सुनने में कर्कश प्रतीत होती हैं जैसे – मुखम् .... मुहम्, मेखला .... मेहला, मेधः .... मेहो, जघनं .... जहणं, गाथा .... गाहा, शपथः सवहो, राधा .... राहा, वधिरः .... वहिरो, सभा .... सहा, रासभः .... रासहो, आदि।

संस्कृत की र ध्वनियां ल में परिवर्तित होती हैं जैसे हरिद्रा .... हलद्दा, चरण .... चलणो, मुखरः .... मुहलो, सुकुमारः .... सोमालो, अङ्गुरी .... अंङ्गुली, अंगोटः .... इगालो, किरातः .... चिलादो, परिखा .... फलिहा आदि।

प्राकृत भाषाओं में संस्कृत शब्दों के आदि में स्थित य को ज हो जाता है जैसे यष्टिः .... जट्ठी, यशः .... जसो, यक्षः .... जक्खो। यष्टि के य को ल हो कर लट्ठी बनता है। दोला, दण्ड तथा दशन के द को ड हो जाता हैं और डोला, डंडो तथा डसणो रूप बनते हैं। प की ध्वनि फ में हो जाती है जैसे परुषः .... फरुसो, परिघः .. फलिहो, परिखा .... फलिहा, पनसः .... फणसो। किन्हीं पदों के आदि अक्षर को छ भी होता है। षष्ठी....छट्ठी, षण्मुखः ...छम्मुहो, शावक....शावओ, सप्तपर्णः....छत्तवण्णो।

प्राकृत भाषाओं में न् की ध्वनि नहीं होती, उसके स्थान पर सर्वत्र ण् की ध्वनि होती है। नदी .... णई, कनक .... कणअं, वचनम् .... वअणं, आदि।

महाराष्ट्री एवं अन्य प्राकृतों में संस्कृत की श तथा ष की ध्वनि स में परिवर्तित हो जाती है अर्थात् केवल स् ही रहती है। निशा .... णिसा, अंशः .... अंसो, षण्ढः .... संढो, वृषभः .... वसहो, कषायम् .... कसायं आदि। कहीं-कहीं श की ध्वनि हमें भी परिवर्तित हो जाती है जैसे दशं .... दह, एकादश .... एआरह द्वादश .... बारह, त्रयोदश .... तेरह दशरथ .... दसरहो, दशमुखः .... दहमुहो आदि।

संयुक्त वर्णों के उच्चारण में कुछ कठिनता होती है और उनकी ध्वनि कर्कश तथा कठोर प्रतीत होती है। संस्कृत में ऐसे अनेक संयुक्त शब्द हैं। प्राकृत भाषाओं में संयुक्त शब्दों की एक ध्वनि का लोप कर दिया गया अथवा उनका विप्रकर्ष (स्वरभक्ति) हो गया अथवा उस संयुक्त वर्ण के स्थान पर कोई दूसरी ध्वनि करदी गई और इस प्रकार उनके उच्चारण को सरल करने की प्रवृत्ति का उपयोग किया गया।

संयुक्त वर्णों, क, ग, ड, त, द, प, श, स, ष, का लोप हो गया जैसे भक्तम् .... भत्तं मुग्धः .... मुद्धो, स्निग्धः .... सिणिद्धो, खड्गः .... खग्गो उत्पलम् .... उप्पलं, मुद्गाः .... मुग्गा, उत्पातः .... उप्पाओ, सुप्तः....सुत्तो गोष्ठी .... गोट्ठी, निष्ठुरः .... णिट्ठुरो, स्खलितम् .... खलिअं, स्नेहः .... णेहो आदि।

इसी प्रकार नीचे के संयुक्त वर्णों म, न, य का भी लोप होगया शुष्म .... सोस्सं, रश्मिः .... रस्सी, युग्म .... जुग्गं, वाग्मी .... वग्गी, सौम्यः .... सोम्मो, योग्यः .... जोग्गो आदि।

संयुक्त वर्णों के ल, व, र का भी लोप हो गया चाहे ऊपर हों अथवा नीचे स्थित हों—जैसे उल्का .... उक्का, वल्कलम् .... वक्कलं, विक्लवः .... विक्कवो, लुब्धकः .... लुद्धओ, पक्वम् .... पक्को, अर्कः .... अक्को, शक्रः.... सक्को आदि।

श्मश्रु तथा श्मशान के आदि वर्ण का लोप होने पर मस्सु तथा मसाणं रूप बनते हैं। मध्या ह्न के ह का लोप होने पर मज्झण्णो रूप बनता है। पूर्वाह्न, आह्लाद, तथा ब्रह्मन् में जो न, ल, तथा म नीचे थे वे पद के ऊपर ध्वनित होने लगे और इनके रूप क्रम से, पुव्वण्हो, अल्हादो, तथा वह्मणो बनते हैं।

ष्ट को ठ होने पर यष्टि का लट्ठी और दृष्टि का दिट्ठी रूप बनता है। अस्थि का अट्ठी, । संस्कृत के स्त के स्थान पर थ हो जाता है। हस्तः .... हत्थो, समस्तः .... समत्थो, स्तुतिः .... तुई, स्तवकः .... थवओ,

कौस्तुभः .... कोत्थुहो आदि। स्तम्भ का खंभो रूप होता है कार्यम् का कज्जं, शय्या का सेज्जो, तूर्य का तूरं, धैर्यम् का धीरं, सुन्दरम् का सुंदेरं पर्यन्तम् का पेरन्तं, आश्चर्य का अच्छेरं रूप बनता है।

संयुक्त त्य, थ्य तथा द्य को क्रमशः च, छ, तथा ज होते हैं जैसे—नित्यम् .... णिच्चं रथ्या का रच्छा, मिथ्या का मिच्छा, विद्या का विज्जा, वैद्यः का वेज्जो बनता है। संयुक्त ष्क, स्क तथा क्ष को ख होता है जैसे पुष्करः.... पोक्खरो, शुष्कम् .. सुक्खं स्कन्दः .... खंदो, स्कन्धः .... खंधो, यक्षः .... जक्खो, क्षतः .... खदो आदि।

क्ष की ध्वनि को छ हो जाता है अक्षि .... अच्छी, लक्ष्मी .... लच्छी, क्षीरम् .... छीरं, क्षुब्धः .... छुद्धो, क्षारम् .... खारं, मक्षिका .... मच्छिआ आदि।

इसी प्रकार अन्य परिवर्तन भी हैं जो कि उन प्राकृतों के व्याकरण के ग्रन्थों में भली प्रकार प्रतिपादित हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि प्राकृत भाषाओं में सर्व साधारण की सुविधा तथा अनेक रूपता को दूर करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। ये परिवर्तन देश या प्रान्त के भेद से भिन्न-भिन्न हैं।

एक ही शब्द महाराष्ट्री प्राकृत में अन्य रूप से प्रयुक्त होता है तथा शौरसेनी एवं मागधी में उसका दूसरा रूप प्राप्त होता है। मोटे उदाहरण के लिये महाराष्ट्री प्राकृत में संस्कृत की ष तथा श की ध्वनि स में परिवर्तित हो जाती है पर मागधी में संस्कृत की ष तथा स् की ध्वनियां श में परिवर्तित होती हैं। मोषः का माशे तथा विलासः का विलाशे रूप बनता है। हृदय का मागधी में हडक्क रूप होता है पर महाराष्ट्री में हिअअं होता है। इसी प्रकार की प्रत्येक प्राकृत में अपनी विशेषतायें हैं।

प्राकृत भाषाओं का साहित्य हमें दो रूपों में प्राप्त होता है, प्रथम तो स्वतन्त्र ग्रन्थों में तथा दूसरा संस्कृत के ग्रन्थों में (नाटकों) विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त। यह तो निश्चित है कि प्राकृतों का साहित्य बौद्ध तथा जैन धर्म के विद्वानों के द्वारा अधिक निर्मित तथा प्रसारित किया गया। जैन धर्मावलम्बियों ने तो मागधी एवं अर्ध मागधी को 'आर्षी' भाषा के रूप में स्वीकृत किया था और इसीलिये उनके ग्रन्थ इन्हीं प्राकृतों में अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। बौद्धों ने भी इन्हीं प्राकृतों को ही अपनाया क्योंकि बुद्ध वचनों का संग्रह पालि एवं अन्य प्राकृतों में किया गया था। इन धर्मों का अभ्युदय काल इसी ईसा के पूर्व दूसरी शती से लेकर ईसा की

९वीं या ८वीं शताब्दी तक है अतः यही काल प्राकृत भाषाओं के अभ्युदय का माना जा सकता है और प्राकृत भाषाओं का उपलब्ध साहित्य भी इसी काल का है। जैन साहित्य, अर्ध मागधी, महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृतों में उपलब्ध होता है। भिन्न-भिन्न समयों में जैनधर्म के सिद्धान्तों का संग्रह आगम, सूत्र (श्रुत या सिद्धान्त) ग्रन्थों में किया गया। इस पुस्तक में उस साहित्य की विवेचना तो नहीं हो सकती हाँ उनका नाम मात्रिक परिचय देना ही पर्याप्त होगा। उनके विषय तथा विवेचन के लिये उन ग्रन्थों का स्वाध्याय आवश्यक है। जैन साहित्य ६ विभागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) अंग जिनकी संख्या १२ है। (२) उवंग (उपागं) इनकी संख्या भी १२ है। (३) छेया सुत्त (छेद सूत्र) इनका संख्या ६ है। (४) मूल सुत्त (मूलसूत्र) इनकी संख्या ४ है। (५) परण्ण (प्रकीर्ण) इनकी संख्या १० है। (६) चूलिया सुत्त (चूलिका सूत्र) इनकी संख्या दो है।

१२ अंग ये हैं:— १) आयारंग सुत्त (आचाराङ्ग सूत्र) (२) सूयगडंग (सूत्रकटागं) (३) ठाणांग (स्थानाङ्ग) (४) समवायाङ्ग) (५) वियाह पण्णत्ती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) (६) णाया धम्म कहाओ (न्याय धर्म कथा (७) उवासगदसाओ (उपासक दशा) (८) अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) (९) अणुत्त-रोववाइअदसाओ (अनुत्तरौप पातिकदशाः) (१०) पण्हा वाग रणाइम् (प्रश्नव्याकरणानि) (११) विवागसुयम् (विपाक श्रुतम्) (१२) दिट्ठिवारा (दृष्टिवादः)।

१२ उपाङ्ग.— (१) ओव वाइयम् (औपपातिकम्) (२) रायपसेणियम् (राज प्रश्नीयम्) (३) जीवा जीवाभिगम (४) पण्णवणा (प्रज्ञापना) (५) जम्बुद्दीव पण्णती (जम्बुद्वीप प्रज्ञप्तिः) (६) चन्द पण्णती (चन्द्र प्रज्ञप्तिः) (७) सूरियपण्णती (सूर्यप्रज्ञप्तिः) (८) कप्पियाओ (कल्पिकाः) (९) कप्पाव डांसआओ (कल्पावतसंकाः) (१०) पुप्फियाओ (पुष्पिकाः) (११) पुप्फ चूलाओ (पुष्प चूलाः) (१२) वह्निदशाओ (वृष्णिदशाः)। ये ग्रन्थ अंगों की अपेक्षा मान्यता में कुछ हीन हैं।

६ छेद सूत्रः— (१) निसीह (निशीथ) (२) महानिसीह (महानिशीथ) (३) ववहार (व्यवहार) (४) आयारदसाओ (आचार दशाः) (५) कप्प सुत्त (कल्प सूत्र) पंचकप्प (पंचकल्प)

४ मूल सूत्र:— (१) उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) (२) आवस्सय (आवश्यक) (३) दसवेसालिया (दशवैकालिक) (४) पिण्डनिज्जुत्ती (पिण्डनिर्युक्ति)

१० प्रकीर्णक:—(१) चतुःशरणं (२) भक्तपरिज्ञा (३) संस्तारक (४) आतुर प्रत्याख्यान (५) महाप्रत्याख्यान (६) तंदुलवैतालिक (७) चन्द्रवेध्यक (८) देवेन्द्रस्तव (९) गणितविद्या (१०) वीरस्तव।

इन ग्रन्थों के अध्ययन से उस समय में प्रचलित प्राकृत भाषाओं के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी हो सकती है। यद्यपि ये जैन कृतियाँ हैं परन्तु इनमें अन्य विषयों का भी विवेचन किया गया है और पौराणिक तथा लौकिक कथाओं का भी समावेश है।

कथा, कहानी तथा उपन्यास साहित्य भी प्राकृत भाषाओं में प्राप्त होता है। यह साहित्य प्रायः जैनों तथा बौद्धों का ही लिखा हुआ है। इन कहानियों में संस्कृत के समान धार्मिकता या उपदेशात्मक कथायें भी हैं। प्रेम सम्बन्धी उपन्यास भी हैं जिनमें शृंगार, शान्त, तथा करुण रस ही प्रधान हैं। चरित्र सम्बन्धी आख्यान भी प्राप्त होते हैं। इनमें 'कुवलयमाला कथा' 'उवएसमाला' (उपदेश माला) कुमारपाल प्रतिबोध' 'कथाकोषप्रकरण 'धर्मोपदेश माला' 'समराइच्च कहा' (समरादित्य कथा) 'गाथा कोष' 'गाया सहस्त्री' 'भववैराग्यशतक'।

'धूतरिन्यान' (धूर्ताख्यान) 'कथा महोदधि' 'विजयचन्द्र केवलिन्' 'ज्ञान पंचमी कथा' आदि कथा साहित्य है। उपन्यासों में भी 'सिरिसिरिवाल कहा' 'भूवन सुन्दरी' 'तरंगवती' 'कालकाचार्य कथानक' 'सुर सुन्दरी चरिअ' 'मलय सुन्दरी कथा' 'रयण सेहर कहा' (रत्नशेखर कथा) आदि प्रेमाख्यान सम्बन्धी उपन्यास हैं। चरित्रों में 'पउमचरिय' (पद्मचरित) अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'सुपास्पनाहचरिय' (श्री पार्श्वनाथ चरित) 'चउपन्तमहापुरिस चरिय' 'शलारा पुरुष चरित' 'बसुदेव हिण्डी' 'कुम्मापुत्त चरिअ' 'कुमार पाल चरित' 'महावीर चरित' 'सुमतिनाथ चरित' आदि ग्रन्थ प्राकृत भाषाओं में प्राप्त होते हैं। तीर्थङ्करों तथा जैन धर्म के साधुओं पर श्रद्धाभक्ति प्रकट करने वाले स्तोत्र भी संस्कृत के समान ही प्राकृत भाषाओं में भी लिखे गये जिनमें 'ऋषभ पंचाशिका' 'अजिय सन्तिथय' 'शान्ति नाथ स्तवन' 'पार्श्वजिन स्तवन' 'ऋषि मण्डल स्तोत्र' 'महावीर स्तव' 'उवसग्गहर' आदि चरित्र सुन्दर प्राकृत भाषा के पद्यों में निर्मित उपलब्ध होते हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में

'कर्म प्रकृति' 'पंच संग्रह' 'काषाय प्राभृत' 'मूलाराधना' 'श्रावकाचार' 'दर्शनसार' जीवविचार आदि अनेक ग्रन्थ गद्य तथा पद्य रूप में उपलब्ध हैं।

प्रबन्ध काव्यों में 'सेतुबन्ध' 'गौडवहो' 'लीलावई' 'महुमहविजअ' 'सोरि चरित्र' 'सिरिचिंध कव्वं' 'उसाणिरुद्ध' 'कंसवहो' 'रावण विजय' आदि प्रसिद्ध तथा सुन्दर साहित्य प्राकृत भाषाओं में उपलब्ध है। मुक्तक काव्य भी 'गाथा सप्तशती, वज्जा लग्ग' 'मदन मुकुट' 'विषमबाण लीला' आदि भी प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रायः सभी प्रधान तथा उत्कृष्ट ग्रन्थों में प्राकृतों के पद्य उपलब्ध होते हैं। नाट्य शास्त्र, दश रूपक, काव्यानुशासन, ध्वन्यालोक, सरस्वती कण्ठाभरण, लोचन, काव्यालंकार, काव्यादर्श, रस गंगाधर, काव्यप्रकाश, अलंकार विमर्शिणी' आदि ग्रन्थों में पर्याप्त रूप में प्राकृतों के पद्य हैं।

संस्कृत का नाट्य साहित्य पूर्ण रूप से इन प्राकृतों से संयुक्त है क्योंकि उनमें स्त्रियों तथा अन्य हीन पात्रों द्वारा इन्हीं प्राकृतों का प्रयोग कराया जाता था। कालिदास, शूद्रक, भवभूति, भास, श्रीहर्ष आदि कवियों ने अपनी कृतियों में इनका सुन्दर उपयोग किया है।

इस प्रकार प्राकृत भाषाओं का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में है पर दुर्भाग्य से प्राकृतों का अध्ययन न होने से इस साहित्य का प्रचार भी नहीं है। आशा है कि यह अक्षय निधि विद्वानों की उपेक्षा से समाप्त प्राय न हो पायेगी।

वररुचि प्रणीत प्राकृत प्रकाश के सूत्र तथा उनके अर्थ

प्रथम परिच्छेद

आदेरतः । १—१

अर्थः—इस परिच्छेद में जो भी कार्य होगा वह आदि के अकार को होगा यह अधिकार सूत्र है ।

आसमृद्ध्यादिषु वा । १-२

अर्थ.—समृद्धि आदि शब्दों में आदि के अकार को विकल्प से दीर्घ आ होता है ।

इदोषत् पक्वस्वप्न वेतस व्यजनमृदङ्गाऽङ्गारेषु । १-३

अर्थः—ईषत् आदि शब्दों में आदि के अकार को इ होता है ।

लोपोऽरण्ये । १-४

अरण्य (जंगल) शब्द के आदि के अ का लोप हो जाता है ।

ए शय्यादिषु । १-५

अर्थः—शय्या आदि शब्दों में आदि के अकार को एकार होता है ।

ओ बदरे देन । १-६

अर्थ —बदर शब्द में दकार के साथ आदि के अकार को ओ हो जाता है ।

लवणे नवमल्लिकयोर्वेन । १-७

अर्थः - लवण आदि शब्दों में आदि के अकार को वकार के साथ ओ हो जाता है ।

मयूर मयूखयोर्व्वा वा । १-८

अर्थः—मयूर तथा मयूख शब्दों में यु के साथ आदि के अकार को विकल्प से ओ होता है ।

चतुर्थी चतुर्दश्योस्तुना । १-९

अर्थः चतुर्थी तथा चतुर्दशी शब्दों के तु के साथ आदि के अकार को ओ हो ज ता है ।

अदातो यथादिषुवा। १-१०

अर्थ:—यथा आदि शब्दों में आ के स्थान पर विकल्प से अकार हो जाता है।

इत्सदादिषु। १-११

अर्थ—सदा आदि शब्दों में आ को विकल्प से अ होता है।

इत एत् पिण्ड समेषु। १-१२

अर्थ—पिण्ड आदि शब्दों में इकार को एकार विकल्प से होता है।

अत् पथि हरिद्रापृथ्वीषु। १-१३

अर्थ—पथि आदि शब्दों में इकार को अकार होता है।

इतेस्त: पदादे:। १-१४

इति शब्द के त् के बाद जो इ है उसको अकार होता है।

उदिक्षुवृश्चिकयो:। १-१५

अर्थ—इक्षु तथा वृश्चिक शब्दों के इकार को उकार हो जाता है।

ओत्द्विधाक्रञ:। १-१६

अर्थ—कृञ् धातु के प्रयोग में द्विधा शब्द को ओकार होता है और उकार भी होता है।

ईत् सिंह जिह्वयोश्च। १-१७

अर्थ—सिंह तथा जिह्वा शब्द के इकार को ईकार होता है।

इदीत: पानीयादिषु। १-१८

अर्थ—पानीय आदि शब्दों में आदि के ईकार को इकार होता है।

एन्नीडापीड क्रीडगीदृशेषु। १-१९

अर्थ—नीड आदि शब्दों में आदि के ईकार को एकार होता है।

उत ओत् तुण्ड रूपेषु। १-२०

अर्थ—तुण्ड आदि शब्दों मे आदि के उकार को ओकार होता है।

उलूखलेल्वा वा। १-२१

अर्थ—उलूखल शब्द में लकार के साथ ऊकार को ओकार विकल्प से होता है।

अन् मुकुटादिषु। १-२२

अर्थ—मुकुट आदि शब्दों में आदि के उकार के स्थान पर अकार होता है।

इत्पुरुषेरो:। १-२३

अर्थ—पुरुष शब्द के रु में जो उ है उसको इकार होता है।

उदूतो मधूके। १-२४

अर्थ—मधूक शब्द के ऊकार को उकार होता है।

अद् दुकूले वा लस्य द्वित्वम्। १-२५

दुकूल शब्द के ऊ को अकार विकल्प से होता है और लकार को द्वित्व हो जाता है।

एन्नूपुरे। १-२६

अर्थ—नूपुर शब्द के ऊकार को एकार हो जाता है।

ऋतोऽत्। १-२७

अर्थ—आदि के ऋकार को अकार होता है।

इदृत्यादिषु। १-२८

अर्थ—ऋषि आदि शब्दों के आदि के ऋकार को इकार हो जाता है।

उदृत्वादिषु। १-२९

अर्थ—ऋतु आदि शब्दों के आदि के ऋकार को उकार हो जाता है।

ऋ रीतिः। १-३०

अर्थ—दूसरे वर्ण से असंयुक्त आदि के ऋकार को रिकार हो जाता है।

क्वचिद्युक्तस्यापि। १-३१

अर्थ—वर्णान्तर से युक्त होने पर भी ऋकार को कहीं-कहीं रिकार होता है।

वृक्षे वेन रुर्वा। १-३२

अर्थ—वृक्ष शब्द में व् अक्षर के साथ ऋकार को रुकार हो जाता है (विकल्प से)।

लृतः क्लृप्तइलिः। १-३३

अर्थ—क्लृप्त शब्द में लृकार को इलि यह आदेश होता है।

ऐत इद् वेदना देवरयोः। १-३४

अर्थ—वेदना तथा देवर शब्दों के एकार को इकार होता है।

ऐतएत्। १-३५

अर्थ—आदि के ऐकार को एकार होता है।

दैत्यादिष्वइ। १-३६

अर्थ—दैत्यादि शब्दों में ऐकार को अइ यह आदेश होता है।

दैवे वा। १-३७

अर्थ—दैव शब्द के ऐकार को विकल्प से अइ आदेश होता है।

इत्सैन्धवे। १-३८

अर्थ—सैन्धव शब्द के ऐकार को इकार होता है।

ईद् धैर्ये । १-३९

अर्थ – धैर्य शब्द के ऐकार को ईकार होता है ।

ओतो द्वा प्रकोष्ठे कस्य वः । १-४०

अर्थ—प्रकोष्ठ शब्द के ओकार को विकल्प से अकार होता है और उसके संयोग से ककार को वकार हो जाता है ।

औत ओत् । १-४१

अर्थ—आदि के औकार को ओकार होता है ।

पौरादिष्वउ । १-४२

अर्थ—पौर आदि शब्दों के औकार को अउ यह आदेश होता है ।

आ च गौरवे । १-४३

अर्थ—गौरव शब्द के औकार को आकार हो जाता है ।

उत्सौन्दर्यादिषु । १-४४

अर्थ—सौन्दर्य आदि शब्दों में औकार को उकार होता है ।

द्वितीय परिच्छेद

अयुक्तस्यानादौ । २-१

अर्थ—यह भी अधिकार सूत्र है । इसके आगे जो कार्य होगा वह अयुक्त व्यञ्जन को तथा जो आदि में नहीं है उसमें होगा ।

कगचजतद पयवां प्रायोलोपः । २-२

अर्थ—क आदि वर्णों का जो अयुक्त हों और आदि में न हों तो प्रायः उनका लोप हो जाता है ।

यमुनायां मस्य । २-३

अर्थ—यमुना शब्द में मकार का लोप हो जाता है ।

स्फटिक निकष चिकुरेषु कस्य हः । २-४

अर्थ – अनादि में होने वाले इन शब्दों के ककार को हकार हो जाता है ।

शीकरेभः । २-५

अर्थ—शीकर शब्द के ककार को भ हो जाता है ।

चन्द्रिकायां मः । २-६

अर्थ—चन्द्रिका शब्द के क को म होता है ।

ऋत्वादिषु तो दः । २-७

अर्थ—ऋतु आदि शब्दों में त को द हो जाता है ।

प्रतिमर वेतस पताकासु डः । २-८

अर्थ—इन शब्दों के तकार को डकार हो जाता है ।

वसतिभरततो हं: । २-९

अर्थ—वसति तथा भरत शब्दों के त को ह होता है ।

गर्भितेण: । २-१०

अर्थ—गर्भित शब्द के त को ण होता है ।

ऐरावतेच । २-११

अर्थ—ऐरावत शब्द के त को ण होता है ।

प्रदीप्त कदम्ब दोहदेषु ल: । २-१२

अर्थ—इन शब्दों के द को ल होता है ।

गद्गदे र: । २-१३

अर्थ—गद्गद शब्द के अन्तिम द को र आदेश होता है ।

संख्यायाञ्च । २-१४

अर्थ—संख्यावाचक शब्दों में जो द है उसे रकार होता है ।

पोव: । २-१५

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित प को व होता है ।

आपीडेम: । २-१६

अर्थ—आपीड शब्द मे जो प है उसे म होता है ।

उत्तरीयानीययोर्ज्जो वा । २-१७

अर्थ—उत्तरीय शब्द में तथा अनीय प्रत्ययान्त शब्दों में जो य है उसे विकल्प से ज्ज होता ।

छायायां ह: । २-१८

अर्थ—छाया शब्द के य को ह होता है ।

कबन्धे बो म: । २-१९

अर्थ—कबन्ध शब्द के ब को मकार होता है ।

टोड: । २-२०

अर्थ - अयुक्त तथा अनादि में स्थित ट को ड होता है ।

सटा शकट कैटभेषु ढ: । २-२१

अर्थ - इन शब्दों के टकार को ढकार होता है ।

स्फटिके ल: । २-२२

अर्थ—स्फटिक शब्द के टकार को लकार होता है ।

ढस्य च । २-२३

अर्थ - अयुक्त तथा अनादि में स्थित ढकार को लकार होता है ।

ठोढ: । २-२४

अर्थ अयुक्त तथा अनादि में स्थित ठ को ढ होता है ।

अङ्कोलेल्लः। २-२५

अर्थ—अङ्कोल शब्द के लकार को ल्ल होता है।

फोभः। २-२६

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित फ को भ होता है।

खघथधभां हः। २-२७

अर्थ—अयुक्त तथा अनादि में स्थित ख, घ, थ, ध और भ के स्थान पर ह होता है।

प्रथम शिथिल निषधेषु ढः। २-२८

अर्थ—इन शब्दों के थ तथा ध को ढ होता है।

कैटभे वः। २-२९

अर्थ—कैटभ शब्द के भ को व होता है।

हरिद्रादीनां रो लः। २-३०

अथ—हरिद्रा आदि शब्दों के रकार को लकार होता है।

आदेर्योजः। २-३१

अर्थ—आदि के यकार को जकार होता है।

यष्ट्यांलः। २-३२

अर्थ—यष्टि शब्द के यकार को लकार होता है।

किराते चः। २-३३

अर्थ—किरात शब्द के क को च होता है।

कुब्जे खः। २-३४

अर्थ—कुब्ज शब्द के क को ख होता है।

दोला दण्ड दशनेषु डः। २-३५

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को ड होता है।

परुष परिघ परिखासु फः। २-३६

अर्थ—इन शब्दों के आदि वर्ण को फ होता है।

पनसेऽपि। २-३७

अर्थ—पनस शब्द के आदि वर्ण को भी फ होता है।

विसिन्यां भः। २-३८

अर्थ—विसिनी शब्द के आदि वर्ण को भ होता है।

मन्मथे वः। २-३९

अर्थ—मन्मथ शब्द के आदि वर्ण को व होता है।

लाहलेणः। २-४०

अर्थ—लाहल शब्द के आदि वर्ण को ण होता है।

षट्शावक सप्त पर्णानां छः। २-४१

अर्थ – इन शब्दों के आदि वर्ण को छ होता है।

नो णः सर्वत्र। २-४२

अर्थ—सब स्थानों पर नकार को णकार होता है।

शषोः सः। २-४३

अर्थ—शकार तथा षकार के स्थान पर सकार होता है।

दशादिषु हः। २-४४

अर्थ—दश आदि शब्दों में शकार को ह होता है।

संज्ञायां वा। २-४५

अर्थ—यदि दश शब्द का प्रयोग किसी शब्द के साथ हो और वह सम्पूर्ण शब्द किसी संज्ञा का द्योतन करे तो वहां दश के श को विकल्प से ह होता है।

दिवसे सस्य। २-४६

अर्थ—दिवस शब्द के सकार को ह होता है।

स्नुषायां णहः। २-४७

अर्थ—स्नुषा शब्द के षकार को ण्ह होता है।

तृतीय परिच्छेद

उपरिलोपः क ग ड त द प ष साम्। ३-१

अर्थ—युक्त वर्णों के ऊपर स्थित क, ग, ड, त, द, प, ष तथा स वर्णों का लोप हो जाता है।

अधोमनयाम्। ३-२

अर्थ—युक्त वर्णों के नीचे स्थित म, न, य का लोप होता है।

सर्वत्रलवराम्। ३-३

अर्थ—संयुक्त वर्णों के ऊपर स्थित ल, व तथा र का लोप हो जाता है।

द्रेरोवा। ३-४

द्र शब्द के रकार का विकल्प से लोप होता है।

सर्वज्ञ तुल्येषु ञः। ३-५

अर्थ – सर्वज्ञ तथा तुल्य शब्दों में ञकार का लोप हो जाता है।

श्मश्रुश्मशानयोरादेः। ३-६

अर्थ—श्मश्रु तथा श्मशान शब्दों के आदि का लोप हो जाता है।

मध्याह्ने ह्नस्य। ३-७

अर्थ—मध्याह्न शब्द के ह्न का लोप होता है।

ह्न ह्ल ह्मेषु नलमां स्थितिरूर्ध्वम्। ३-८

अर्थ—ह्न, ह्ल तथा ह्म में जो न ल तथा म हैं उनकी स्थिति ऊपर हो जाती है।

युक्तस्य। ३-९

अर्थ—यह भी अधिकार सूत्र है। इसके आगे इस परिच्छेद में वर्णित जो भी कार्य होगा वह युक्त वर्णों को ही होगा।

ष्टस्य ठः। ३-१०

अर्थ—ष्ट के टकार को ठकार होता है।

अस्थनि। ३-११

अर्थ—अस्थि शब्द में संयुक्त वर्ण को ठकार होता है।

स्तस्य थः। ३-१२

अर्थ—स्त को थ आदेश होता है।

स्तम्बे। ३-१३

अर्थ—स्तम्ब शब्द के स्त को थ नहीं होता।

स्तम्भे खः। ३-१४

अर्थ—स्तम्भ शब्द के स्त को ख होता है।

स्थाणावहरे। ३-१५

अर्थ—स्थाणु शब्द के संयुक्त वर्ण को ख होता है पर यदि स्थाणु शब्द हर (शंकर) का वाची नहीं है।

स्फोटके। ३-१६

अर्थ—स्फोटक शब्द में संयुक्त वर्ण को खकार होता है।

र्य शय्याभिमन्युषु जः। ३-१७

अर्थ—र्य तथा शय्या और अभिमन्यु शब्दों के संयुक्त वर्णों को जकार होता है।

तूर्य धैर्य सौन्दर्याश्चर्यपर्यन्तेषु रः। ३-१८

अर्थ—इन शब्दों के र्य को रकार होता है।

सूर्येवा। ३-१९

अर्थ—सूर्य शब्द के र्य को रकार विकल्प से होता है।

चौर्य समेषु रिअ। ३-२०

अर्थ—चौर्य आदि के समान शब्दों में र्य को 'रिअ' यह आदेश होता है।

पर्यस्त पर्याण सौकुमार्येषु लः। ३-२१

अर्थ—इन शब्दों के र्य को लकार होता है।

तस्य टः। ३-२२

अर्थ—तं इसको टकार होता है।

पत्तने। ३-२३

अर्थ—पत्तन शब्द के संयुक्त वर्ण को टकार होता है।

न धूर्तादिषु। ३-२४

अर्थ—धूर्त आदि शब्दों में तकार को टकार नहीं होता।

गर्तेडः। ३-२५

अर्थ—गर्त शब्द के र्त को डकार होता है।

गर्दभ, संमर्द, वितर्दि, विच्छर्दिष दंस्य। ३-२६

अर्थ—इन शब्दों के र्द को ड होता है।

त्यथ्यद्यां चछजाः। ३-२७

अर्थ—त्य, थ्य, तथा द्य इनको क्रम से च छ तथा ज होता है।

ध्यह्योर्झः। ३-२८

अर्थ—ध्य तथा ह्य को झकार होता है।

ष्क स्कक्षां खः। ३-२९

अर्थ—ष्क, स्क तथा क्ष को ख हो जाता है।

अक्ष्यादिषच्छः। ३-३०

अर्थ—अक्षि आदि शब्दों में क्ष को छ होता है।

क्षमा वृक्ष क्षणेषु वा। ३-३१

अर्थ—इन शब्दों के अकार को विकल्प से छकार होता है।

ष्म पक्ष्म विस्मयेषु म्हः। ३-३२

अर्थ—ष्म पक्ष्म और विस्मय शब्दों के संयुक्त वर्णों को म्ह आदेश होता है।

ह्स्नष्ण क्ष्ण स्नां ण्हः। ३-३३

अर्थ—ह्न स्न ष्ण क्ष्ण तथा स्न को ण्ह होता है।

चिन्हेन्धः। ३-३४

चिन्ह के संयुक्त वर्ण को न्ध होता है।

ष्पस्य फः। ३-३५

अर्थ—ष्प इसको फ आदेश होता है।

स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य। ३-३६

अर्थ—स्प यह संयुक्त वर्ण यदि शब्द में कहीं पर भी हो तो उसे फ हो जाता है।

सि च । ३-३७

अर्थ—स्प को कहीं कहीं सि आदेश भी होता है ।

वाष्पे अश्रुणि हः । ३-३८

अर्थ—वाष्प शब्द यदि अंसू वाचक हो तो उसे ह आदेश होता है ।

कार्षापणे । ३-३९

अर्थ—कार्षापण शब्द में संयुक्त वर्ण को हकार होता है ।

श्चत्सप्सां छः । ३-४०

अर्थ—श्च त्स तथा प्स को छकार होता है ।

वृश्चिकेञ्छः । ३-४१

अर्थ—वृश्चिक शब्द के श्च को ञ्छ आदेश होता है ।

नोत्सुकोत्सवयोः । ३-४२

अर्थ उत्सुक तथा उत्सव इनमें संयुक्त वर्णों को छ नहीं होता ।

न्मोमः । ३-४३

अर्थ—न्म इसको मकार होता है ।

म्न ज्ञ पञ्चाशत् पञ्चदशेषु णः । ३-४४

अर्थ—म्न, ज्ञ तथा पञ्चाशत् और पञ्चदश शब्दों में संयुक्त वर्णों को णकार होता है ।

तालवृन्तेण्टः । ३-४५

अर्थ—तालवृन्त शब्द में संयुक्त वर्ण को ण्ट होता है ।

भिन्दिपालेण्डः । ३-४६

अर्थ—भिन्दिपाल इस शब्द में संयुक्त वर्णों को ण्ड आदेश होता है ।

विह्वले भहौवा । ३-४७

अर्थ—विह्वल शब्द में संयुक्त वर्णों को भकार तथा हकार विकल्प से होते हैं ।

आत्मनिपः । ३-४८

अर्थ—आत्मन् शब्द में संयुक्त वर्ण को पकार होता है ।

कमस्य । ३-४९

अर्थ—कम इसको पकार होता है ।

शेषादेशयोर्द्वित्व मनादौ । ३-५०

अर्थ—युक्त वर्णों में आदेश रूप में जो शेष रह जाते हैं उनको यदि वे आदि में न हों तो द्वित्व हो जाता है ।

वर्गेषु युजः पूर्वः। ३-५१

अर्थ—युक्त वर्णों में आदेश रूप में जो शेष रह जाते हैं उनको यदि वे आदि में नहीं तो द्वित्व होने पर यदि वे दूसरे या चौथे वर्ण हैं (वर्ग के) तो दूसरे को पहला और चौथे को तीसरा वर्ण उसी वर्ग का होता है।

नीडादिषु। ३-५२

अर्थ—अनादि में वर्तमान नीड आदि शब्दों को द्वित्व होता है।

आम्र ताम्रयोर्वः। ३-५३

अर्थ—आम्र तथा ताम्र शब्दों में विकल्प से व का द्वित्व होता है।

नरहोः। ३-५४

अर्थ—रकार तथा हकार को द्वित्व नहीं होता।

आङोज्ञस्य। ३-५५

अर्थ—आङ् पूर्वक ज्ञ इस वर्ण को द्वित्व नहीं होता।

न बिन्दु परे। ३-५६

अर्थ—अनुस्वार परे होने पर द्वित्व नहीं होता।

समासे वा। ३-५७

अर्थ—समास में आदेश के शेष भूत वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है।

सेवादिषु च। ३-५८

अर्थ—सेवा आदि शब्दों में अनादि में स्थित वर्ण को विकल्प से द्वित्व होता है।

विप्रकर्षः। ३-५९

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इस अध्याय की समाप्ति तक जो कार्य होगा वह विप्रकर्ष दूर या स्वरभक्ति के रूप में होगा। अर्थात् संयुक्त वर्ण अलग अलग या दूर हो जावेंगे।

क्लिष्टश्लिष्टरत्न क्रियाशार्ङ्गेषु तत्स्वर वत् पूर्वस्य। ३-६०

अर्थ—क्लिष्ट आदि शब्दों में संयुक्त वर्णों का विप्रकर्ष होने पर जो निरर्थक पूर्व वर्ण होता है उसकी तत्स्वरता होती है अर्थात् पूर्व स्वर के साथ ही वह वर्ण भी उसी रूप का हो जाता है।

कृष्णे वा। ३-६१

अर्थ—कृष्ण शब्द में संयुक्त को विप्रकर्ष तथा तत्स्वरता विकल्प से होती है।

इः श्री ह्री क्रीत क्लान्त क्लेश म्लान स्वप्न स्पर्श हर्षार्ह गर्हेषु। ३-६२

अर्थ—इन शब्दों के युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को इकार होने पर तत्स्वरता भी होती है।

अः क्ष्मा श्लाघयो·। ३-६३

अर्थ—क्ष्मा तथा श्लाघा शब्दों में युक्त को विप्रकर्ष होता है तथा पूर्व को अकार तथा तत्स्वरता भी होती है।

स्नेहे वा। ३-६४

अर्थ—स्नेह शब्द में युक्त को विप्रकर्ष तथा पूर्व को अकार और तत्स्वरता विकल्प से होती है।

उः पद्म तन्वी समेषु। ३-६५

अर्थ—पद्म तथा तन्वी के समान शब्दों में युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को उ तथा तत्स्वरता भी होती है।

ज्यायामीत्। ३-६६

अर्थ—ज्या शब्द में युक्त को विप्रकर्ष होता है और पूर्व को ईकार तथा तत्स्वरता भी होती है।

चौथा परिच्छेद

सन्धावचामज् लोप विशेषा बहुलम्। ४-१

अर्थ—सन्धि में वर्तमान अचों (स्वरों) को अच् के विशेष कार्य (ह्रस्व आदि) तथा लोप विकल्प से होते हैं।

उदुम्बरे दोर्लोपः। ४-२

अर्थ—उदुम्बर शब्द में दु का लोप होता है।

कालायसे यस्य वा। ४-३

अर्थ—कालायस शब्द में यकार का लोप विकल्प से होता है।

भाजने जस्य। ४-४

अर्थ—भाजन शब्द में ज का लोप विकल्प से होता है।

यावदादिषु वस्य। ४-५

अर्थ—यावद् आदि शब्दों में व का लोप विकल्प से होता है।

अन्त्य हलः। ४-६

अर्थ—शब्दों के अन्त में जो हल् है उसका लोप होता है।

स्त्रियामात्। ४-७

अर्थ—स्त्रीलिंग के शब्दों को यदि उनके अन्त में हल् है तो उसे आकार होता है।

रो रा। ४-८

अर्थ—स्त्रीलिंग में अन्त्य के र् को रा होता है।

न विद्युति । ४-९

अर्थ—विद्युत् शब्द में आकार नहीं होता ।

शरदो दः । ४-१०

अर्थ—शरत् शब्द के अन्त्य को द होता है ।

दिक् प्रावृषोः सः । ४-११

अर्थ—दिक् तथा प्रावृट् शब्द के अन्त्य को सकार होता है ।

मो बिन्दुः । ४-१२

अर्थ—अन्त्य के हलन्त मकार को बिन्दु होता है ।

अचिमश्च । ४-१३

अर्थ—अच् परे होने पर म् को विकल्प से बिन्दु तथा मकार होता है ।

नञ्जोर्हलि । ४-१४

अर्थ— नकार तथा ञकार को हल् परे रहने पर विकल्प से बिन्दु तथा मकार होता है ।

वक्रादिषु । ४-१५

अर्थ—वक्र आदि शब्दों में बिन्दु होता है ।

मांसादिषु वा । ४-१६

अर्थ - मांस आदि शब्दों में विकल्प से बिन्दु होता है ।

यमि तदु वर्गान्तः । ४-१७

अर्थ—यम् प्रत्याहार परे होने पर बिन्दु होता है या उस अक्षर के वर्ग का अन्तिम अक्षर होता है ।

नसान्त प्रावृट् सरदः पुंसि । ४-१८

अर्थ—नकारान्त, सकारान्त शब्द तथा प्रावृट् और शरत् शब्द पुल्लिग मे प्रयुक्त होते हैं ।

नशिरोनभसी । ४-१९

अर्थ—शिरस् तथा नभस् शब्दों का पुल्लिग में प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

पृष्ठाक्षिप्रश्नाः स्त्रियां वा । ४-२०

अर्थ— इन शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिंग में विकल्प से होता है ।

ओदवापयोः । ४-२१

अर्थ—अ व तथा अप इ न उप सर्गों को विकल्प से ओ होता है ।

तलत्वयोर्दात्तणौ । ४-२२

अर्थ—तल् तथा त्व प्रत्ययों को क्रम से दा तथा त्रण ये आदेश होते हैं ।

क्त्वा ऊणः। ४-२३

अर्थ—क्त्वा प्रत्यय को ऊण आदेश होता है।

तृण इरः शीले। ४-२४

अर्थ—शील या स्वभाव अर्थ में जो तृन् प्रत्यय होता है उसको इर आदेश होता है।

आलिल्लोल्लालवन्तेन्ता मतुपः। ४-२५

अर्थ—मतुप् प्रत्यय के स्थान पर आलु, इल्ल, आल, वन्त, इन्त ये आदेश होते हैं।

विद्युत् पीताभ्यां बालः। ४-२६

अर्थ—विद्युत् तथा पीत शब्दों को स्वार्थ में ल प्रत्यय विकल्प से होता है।

वृन्दे वो रः। ४-२७

अर्थ—वृन्द शब्द में वकार से परे स्वार्थ में विकल्प से र का प्रयोग होता है।

करेणवां रणोः स्थिति परिवृत्तिः। ४-२८

अर्थ—करेणु शब्द में र तथा ण का स्थान परिवर्तन हो जाता है।

आलाने लनोः। ४-२९

अर्थ—आलान शब्द में ल तथा न का (केवल हल् मात्र का) स्थान परिवर्तन होता है।

बृहस्पतौ बहोर्भओ। ४-३०

अर्थ—बृहस्पति शब्द में व तथा ह को क्रमशः भ तथा अ होते हैं।

मलिने लिनो रिलोवा। ४-३१

अर्थ—मलिन शब्द में लि तथा न को क्रम से इ तथा ल विकल्प से होते हैं।

गृहे घरोऽपतौ। ४-३२

अर्थ—गृह शब्द को घर आदेश होता है पर पति शब्द के योग में नहीं होता।

दाढादयो बहुलम्। ४-३३

अर्थ—दंष्ट्रा आदि शब्दों के स्थान पर दाढ् आदि शब्द विकल्प से निपतित होते हैं।

पांचवां परिच्छेद

अत ओत् सोः । ५-१

अर्थ—अकारान्त शब्द से परे सु के स्थान पर ओ होता है ।

जश् शसोर्लोपः । ५-२

अर्थ—आकारान्त के अनन्तर जस् तथा शस् का लोप होता है ।

अतो मः । ५-३

अर्थ—अकारान्त शब्द के बाद द्वितीया के एक वचन में जो अम् है उसके अकार का लोप होता है ।

टामोर्णः । ५-४

अर्थ—अकारात शब्द के अनन्तर टा, आम् इनको णकार होता है ।

भिसोहिं । ५-५

अर्थ—अकारान्त शब्द के अनन्तर भिस् को हिं आदेश होता है ।

ङसेरादोदुहयः । ५-६

अर्थ—अकारान्त के बाद पञ्चमी के एक वचन् ङस् को आ, दो, दु तथा हि ये आदेश होते हैं ।

साहिंतो सुंतो । ५-७

अर्थ—अकारान्त शब्द के अनन्तर भ्यस् को हिंतो तथा सुंतो आदेश होते हैं ।

स्सोङसः । ५-८

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर ङस् को स्स आदेश होता है ।

ङेरेम्मी । ५-९

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर ङे को ए तथा म्मि आदेश होते हैं ।

सुपः सुः । ५-१०

अर्थ—अकारान्त के अनन्तर सुप् को सु आदेश होता है ।

जश् शस ङस्याँसु दीर्घः । ५-११

अर्थ—जसादि के परे अकार को आकार होता है ।

एच सुप्यङिङसोः । ५-१२

अर्थ—सुप् परे होने पर ङि तथा ङस् को छोड़कर अ को ऐ होता है ।

क्वचिद् ङसि ङ्योर्लोपः । ५-१३

अर्थ—कहीं पर ङसि तथा ङि परे होने पर अकार का लोप होता है ।

इदुतोः शसो णो । ५-१४

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे शस् को ण् होता है ।

ङसो वा । ५-१५

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे ङस् को विकल्प से ण् होता है ।

जसश्च ओं यूत्वम् । ५-१६

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे जस् को ओकार होता है। इकार तथा उकार को ईकार तथा ऊकार होता है और ण भी होता है ।

टाणा । ५-१७

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे टा को ण होता है ।

सुभिस्सुप्सुदीर्घः । ५-१८

अर्थ—इकारान्त तथा उकारान्त से परे सु, भिस् तथा सुप् को दीर्घ होता है ।

स्त्रियां शस उदोतौ । ५-१९

अर्थ—स्त्रीलिंग में शस् को उत् तथा ओत् आदेश होते हैं ।

जसो वा । ५-२०

अर्थ—स्त्रीलिंग में जस् को विकल्प से उत् तथा ओत् होते हैं ।

अमिह्रस्वः । ५-२१

अर्थ—स्त्रीलिंग में अम् परे होने पर ह्रस्व होता है ।

टाङस् ङीना मिदेदातः । ५-२२

अर्थ—टा ङस् तथा ङि को स्त्रीलिंग में इत्, एत्, अत् तथा आत् ये आदेश होते हैं ।

नातोऽदातो । ५-२३

अर्थ—आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द के अनन्तर टा, ङस् ङि को अत् तथा आत् आदेश नहीं होते ।

आदीतौ बहुलम् । ५-२४

अर्थ—स्त्रीलिंग में आकारान्त शब्द के आ के स्थान पर आकार तथा ईकार विकल्प से होते हैं ।

न नपुंसके । ५-२५

अर्थ—नपुंसक लिंग में प्रथमा के एक वचन में दीर्घ नहीं होता ।

इज्जश् शसोर्दीर्घश्च । ५-२६

अर्थ—नपुंसक लिंग में जस् तथा शस् के स्थान पर इकार होता है और पूर्व को दीर्घ होता है ।

नामन्त्रणे सावोत्व दीर्घ बिन्दवः । ५-२७

अर्थ—आमन्त्रण प्रतीत होने पर सु विभक्ति में ओकार दीर्घ तथा बिन्दु नहीं होते ।

स्त्रिया मात एत्। ५-२८

अर्थ—स्त्रीलिंग में आमन्त्रण अर्थ में सु विभक्ति के परे आकार को एकार होता है।

ईदूतोर्ह्रस्वः। ५-२९

अर्थ—आमन्त्रण में ईकार तथा ऊकार को ह्रस्व होता है।

सोर्विन्दुर्नपुंसके। ५-३०

अर्थ—नपुंसक लिंग में सु को बिन्दु होता है।

ऋत आरः सुपि। ५-३१

अर्थ—ऋकारान्त शब्द को सुप् परे होने पर आर् आदेश होता है।

मातुरात्। ५-३२

अर्थ—मातृ सम्बन्धी ऋकार को आकार होता है।

उर्ज्जश्शस्, टाङस्सुप्सुवा। ५-३३

अर्थ—जस्, शस्, टा, ङस्, सुप् तथा सु परे होने पर ऋकार को विकल्प से उ होता है।

पितृ भ्रातृ जामातृणामरः। ५-३४

अर्थ—पितृ आदि शब्दों के ऋ को सुप् होने पर अर् होता है।

आ च सौ। ५-३५

अर्थ—सुप परे होने पर पितृ आदि को आ होता है।

राज्ञश्च। ५-३६

अर्थ—राजन् शब्द को सु विभक्ति के परे आकारादेश होता है।

आमन्त्रणे वा बिन्दुः। ५-३७

अर्थ—राजन् शब्द को आमन्त्रण अर्थ में विकल्प से बिन्दु होता है।

जश्शस्ङसांणो। ५-३८

अर्थ—राजन् शब्द से परे जस्, शस् तथा ङस् को णो आदेश होता है।

शसण्ट्। ५-३९

अर्थ—राजन् शब्द से परे शस् को ए आदेश होता है।

आमोणं। ५-४०

अर्थ—राजन् शब्द से परे षष्ठी के बहुवचन आम् को णं आदेश होता है।

टाणा। ५-४१

अर्थ—राजन् शब्द से परे टा को णा आदेश होता है।

ङसश्च द्वित्व वान्त्यलोपश्च। ५-४२

अर्थ—राजन् शब्द से परे ङस् तथा टा को विकल्प से द्वित्व होता है और अन्त्य का लोप होता है।

इदद्वित्वे । ५-४३

अर्थ—राजन् शब्द को द्वित्व न होने पर ङस् तथा टा विभक्ति होने पर इकार होता है ।

आणो णमोरङसि । ५-४४

अर्थ—णो तथा णमो परे होने पर राजन् के जकार को आकारादेश होता है पर ङस् में नहीं हो ता ।

आत्मनोऽप्पाणो वा । ५-४५

अर्थ—आत्मन् शब्द को अप्पाण आदेश होता है विकल्प से ।

इत्वद्वित्ववर्जं राजवदनादेशे । ५-४६

अर्थ—आत्मन् शब्द को अनादेश होने पर राजन् के समान कार्य होते हैं । पर इकार तथा द्वित्व नहीं होते ।

ब्रह्मादया आत्मवत् । ५-४७

अर्थ—ब्रह्मा आदि शब्द प्रयोजन के अनुसार आत्मन् शब्द के समान सिद्ध होते हैं ।

छठा अध्याय

सर्वादे र्जस एत्वम् । ६-१

अर्थ—सर्वादि शब्दों से परे जस् को एकारादेश होता है ।

ङेः स्सिंम्मि त्थाः । ६-२

अर्थ—सर्व आदि शब्दों से ङि(सप्तमी के एक वचन)के परे होने पर स्सिं म्मि तथा त्थ आदेश होते हैं ।

इदमेतत्किं यत्तद् भ्यष्टा इणावा । ६-३

अर्थ—इदम् एद् किम् यद् तथा तद् इनसे परे यदि टा हो तो उसे इण् आदेश विकल्प से होता है ।

आम एसिं । ६-४

अर्थ इदम आदि शब्दों से परे यदि आम् हो तो उसे एसिं आदेश विकल्प से होता है ।

किंयत्तद्भ्यो ङस आसः । ६-५

अर्थ—ईकारान्त तथा किम् आदि शब्दों से परे ङस् को स्सा तथा से आदेश होते हैं ।

इदृभ्यः स्सा से । ६-६

अर्थ—किम् यद् तद् तथा तद् इन शब्दों से परे ङस् को विकल्प से आस आदेश होता है ।

ङे र्हिं। ६-७

अर्थ—किम् आदि शब्दों से परे ङि को र्हिं आदेश विकल्प से होता है।

आहे इ आ काले। ६-८

अर्थ—किं, यद् तथा तद् शब्दों से ङे के काल में आहे तथा इआ आदेश होते हैं।

त्तो दो ङसेः। ६-९

अर्थ—किं, यद् तथा तद् शब्दों से परे ङस् को त्तो तथा दो आदेश होते हैं।

तद ओश्च। ६-१०

अर्थ—तद् शब्द से परे ङ स् को ओकार विकल्प से होता है।

ङसा से। ६-११

अर्थ—तद् शब्द को ङस् के साथ से आदेश होता है।

आमा सिं। ६-१२

अर्थ—तद् शब्द को आम् विभक्ति के साथ सिं आदेश होता है।

किमः कः। ६-१३

अर्थ—किं शब्द को सुप् परे होने पर क आदेश होता है।

इदम इमः। ६-१४

अर्थ—सुप् परे होने पर इदम् शब्द को इम आदेश होता है।

स्सस्सिमोरद् वा। ६-१५

अर्थ—स्स तथा स्सिं के परे होने पर इदम् को अद् आदेश होता है (विकल्प से)

ङे र्देन हः। ६-१६

अर्थ—इदम् शब्द के दकार के साथ ङे के स्थान पर विकल्प से ह आदेश होता है।

न त्थः। ६-१७

अर्थ—इदम् शब्द से परे ङे के स्थान पर त्थ आदेश नहीं होता। ६-२ से प्राप्त था

नपुंसके स्वमो रिदमिणमिणमो। ६-१८

अर्थ—नपुंसक लिंग में इ द म् शब्द से सु तथा अम् परे होने पर विभक्ति के साथ इदं इणं तथा इणमो ये तीन आदेश होते हैं।

एतदः सा वो त्वं वा। ६-१९

अर्थ—एतद् शब्द को सु विभक्ति परे होने पर विकल्प से ओत्व होता है।

त्तो ङसेः। ६-२०

अर्थ—एतद् शब्द से परे ङस् को त्तो आदेश होता है।

त्तो त्थयोस्त लोपः। ६-२१

अर्थ—त्तो तथा त्थ परे होने पर एतद् के तकार का लोप होता है।

तदेतदोः सः सावनपुसके। ६-२२

अर्थ—नपुंसकलिंग को छोड़ कर सु परे होने पर तद् तथा एतद् के तकार को सकार होता है।

अद सो दो मुः। ६-२३

अर्थ—सुप् परे होने पर अदस् के दकार को मु आदेश होता है।

हश्च सौ। ६-२४

अर्थ—अदस् शब्द के दकार को सु परे होने पर हकारादेश होता है।

पदस्य। ६-२५

अर्थ—यह धिकार सूत्र है। इसके आगे जो कुछ भी कार्य होगा वह पद को होगा।

युष्मदस्तं तुमं। ६-२६

अर्थ—सु परे होने पर युष्मद् को तं तथा तुमं आदेश होते हैं।

तुं वामि। ६-२७

अर्थ—युष्मद् शब्द को अम् परे होने पर तुं आदेश विकल्प से होता है।

तुज्झे तुह्मे जसि। ६-२८

अर्थ—युष्मद् शब्द को जस् विभक्ति होने पर तुज्झे तथा तुह्मे आदेश होते हैं।

वो च शसि। ६-२९

अर्थ—युष्मद् शब्द से शस् परे होने पर युष्मद् को वो आदेश विकल्प से होता है

टा ङ्यो स्तइ तए तुमए तुमे। ६-३०

अर्थ—युष्मद् शब्द से टा तथा ङि विभक्ति परे होने पर युष्मद् के स्थान पर तइ, तए, तुमए तथा तुमे ये चार आदेश होते हैं।

ङसि तुमो तुह तुज्झ तुह्म तुम्माः। ६-३१

अर्थ—युष्मद् शब्द से ङसि में युष्मद् को तुमो तुह, तुज्झ, तुह्म तथा तुम्म आदेश होते हैं।

आङि च ते दे। ६-३२

अर्थ—युष्मद् शब्द से तृतीया एक वचन आङ् तथा ङसि में भी ते तथा दे आदेश होते हैं।

तुमाइ च । ६-३३

अर्थ—युष्मद् शब्द से आङ् परे होने पर तुमाइ आदेश होता है।

तुज्झेहिं तुह्मेहिं तुम्मेहिं भिसि । ६-३४

अर्थ—युष्मद् शब्द को भिस् परे होने पर तुज्झेसि, तुह्मेसि और तुम्मेहिं आदेश होते है।

ङसो तत्तो तइत्तो तुमादो तुमादु तुमाहि । ६-३५

अर्थ—युष्मद् शब्द को ङस् परे होने पर तत्तो, तइ त्तो, तुमादो, तुमादु तथा तुमाहि आदेश होते हैं।

तुह्माहिंतो, तुह्मासुन्तो भ्यसि । ६-३६

अर्थ—युष्मद् शब्द को भ्यस् (पचंमी का वहुवचन) परे होने पर तुह्माहिंतो तथा तुह्मासुन्तो आदेश होते हैं।

वो मे तुज्झाणं तुह्माण मामि । ६-३७

अर्थ—युष्मद् शब्द को आम् परे होने पर वो, मे तुज्झाणं तथा तुह्माणं आदेश होते हैं।

ङौ तुमम्मि । ६-३८

अर्थ—युष्मद् शब्द को ङि परे होने पर तुमम्मि आदेश होता है।

तुज्झेसु तुम्हेसु सुपि । ६-३९

अर्थ—युष्मद् शब्द को सुप् परे होने पर तुज्झेसु तथा तुह्मेसु आदेश होते हैं।

अस्मदो हं मह महञं सौ । ६-४०

अर्थ—अस्मद् शब्द को सु परे होने पर हं अहं अहअं आदेश होते हैं।

अहम्मिरमि च । ६-४१

अर्थ—अस्मद् पद को अम् परे होने पर अहम्मि आदेश होता है।

मं ममं । ६-४२

अर्थ—अस्मद् पद को अम् परे होने पर मं, ममं आदेश होते हैं।

अम्हे जश्शसोः । ६-४३

अर्थ—अस्मद् पद को जस् तथा शस् परे होने पर अम्हे आदेश होता है।

णो शसि । ६-४४

अर्थ—अस्मद् शब्द को शस् परे होने पर णो आदेश होता है।

आङि मे ममाइ । ६-४५

अर्थ—अस्मद् पद को आङ् (टा) परे होने पर मे तथा ममाइ आदेश होते हैं।

ङौच मइ मए। ६-४६

अर्थ—अस्मद् शब्द को ङि परे होने पर मइ तथा मए आदेश होते हैं।

अम्हमेहिं भिसि। ६-४७

अर्थ—अस्मद पद को भिस् परे होने पर अम्हेहिं आदेश होता है।

मत्तो मइत्तो ममादो ममाद् ममाहिङौ। ६-४८

अर्थ—अस्मद् पद को ङस् परे होने पर मत्तो, महत्तो, ममादो, ममादु तथा ममाहि आदेश होते हैं।

अम्हाहिंतो अम्हासुंतो भ्यसि। ६-४९

अर्थ—अस्मद् शब्द को भ्यस् परे होने पर अम्हाहिंतो तथा अम्हासुंतो आदेश होते हैं।

मे मम मह मज्झ ङसि। ६-५०

अर्थ—अस्मद् पद को ङस् परे होने पर मे, मम, मह तथा मज्झ आदेश होते हैं।

मज्झाणो अम्ह अम्हाणं अम्हो आमि। ६-५१

अर्थ—अस्मद् शब्द को आम् परे होने पर मज्झणो, अम्ह, अम्हाणं तथा अम्हो आदेश होते हैं।

ममम्मि ङौ। ६-५२

अर्थ—अस्मद् पद को ङि परे होने पर ममम्मि आदेश होता है।

अम्हेसु सुपि। ६-५३

अर्थ—अस्मद् पद को सुप् परे होने पर अम्हेसु आदेश होता है।

द्वेर्दो। ६-५४

अर्थ—सुप् परे होने पर द्वि शब्द को दो आदेश होता है।

त्रेस्ति। ६-५५

अर्थ—सुप् परे होने पर त्रि शब्द को ति आदेश होता है।

तिण्णि जश् शसभ्याम्। ६-५६

अर्थ—त्रि शब्द को जस् तथा शस् में तिण्णि आदेश होता है।

द्वेदुवे दोण्णि वा। ६-५७

अर्थ—द्वि शब्द को जस् तथा शस् परे होने पर दुवे तथा दोण्णि आदेश होते हैं।

चतुरश्चत्तारो चत्तारि। ६-५८

अर्थ—चतुर् शब्द को जस् तथा शस् परे होने पर चत्तारो तथा चत्तारि आदेश होते हैं।

एषामामोण्हं । ६-५९

अर्थ--द्वि, त्रि तथा चतुर् शब्दों को आम् परे होने पर ण्हं आदेश होता है ।

शेषोऽदन्तवत् । ६-६०

अर्थ--शेष विभक्तियों में अदन्त शब्दों के समान कार्य होता है ।

न ङि ङस्योरेदाद्यौ । ६-६१

अर्थ--इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों को ङि तथा ङसि विभक्ति में अदन्त शब्दों के समान एकार तथा आकार नहीं होता ।

एभ्यसि । ६-६२

अर्थ--इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों को भ्यस् परे होने पर अदन्त शब्दों के समान एकार नहीं होता ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् । ६-६३

अर्थ-सब विभक्तियों में सुवन्त तथा तिङन्त दोनों में द्विवचन को बहुवचन होता है ।

चतुर्थ्याः षष्ठी । ६ ६४

अर्थ--चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

सातवां परिच्छेद

ततिपोरिदेतौ । ७-१

अर्थ--त तथा तिप् इनके स्थान पर इत् तथा एत् आदेश होते हैं ।

थास्सिपोः सि से । ७-२

अर्थ--थास् और सिप् इन दोनों में एक एक के स्थान पर सि तथा से ये आदेश होते हैं ।

इद् मिपोर्मिः । ७-३

अर्थ--इद् तथा मिप् इन के स्थान पर मि होता है ।

न्तिहेत्थामोमुमा बहुषु । ७-४

अर्थ--बहुवचन में तिङ् के स्थान पर न्ति, ह, इत्था, मा, मु तथा म ये आदेश होते हैं ।

अत ए से । ७-५

अर्थ--त, तिप्, सिप् तथा थास् इनको ए तथा से आदेश होते हैं ।

अस्तेर्लोपः । ७-६

अर्थ--थास् तथा सिप् परे होने पर अस् धातु का लोप होता है ।

मिमोमुमाना मधोहश्च । ७-७

अर्थ—अस् धातु के परे मि मो मु तथा मा के होने पर इनके नीचे ह होता है और अस् का लोप हो जाता है ।

यक ईअ इज्जौ । ७-८

अर्थ– यक् के स्थान पर ईअ तथा इज्ज आदेश होते हैं ।

नान्त्यद्वित्वे । ७-९

अर्थ—धातु के अन्त्य को द्वित्व होने पर यक को ईअ तथा इज्ज आदेश होते हैं ।

न्तमाणौ शतृ शानचोः । ७-१०

अर्थ—शतृ तथा शानच् प्रत्ययों को क्रम से न्त तथा माण आदेश होते हैं ।

ईचस्त्रियाम् । ७-११

अर्थ—स्त्रीलिंग में शतृ तथा शानच् को ईकारादेश होता है तथा न्त, माण भी होते हैं ।

धातोर्भविष्यतिहिः । ७-१२

अर्थ—भविष्यत् काल में धातु के आगे हि का प्रयोग करना चाहिये ।

उत्तमे स्सा हा च । ७-१३

अर्थ—भविष्यत् काल में उत्तम पुरुष में स्सा तथा हा का प्रयोग करना चाहिये और हि का भी ।

मिनास्संवा । ७-१४

अर्थ—भविष्यत् काल के उत्तम पुरुष में मि ना के साथ धातु के बाद स्स का प्रयोग होना चाहिये ।

मोमुमैर्हिस्साहित्था । ७-१५

अर्थ—भविष्यत् काल के उत्तम पुरुष में मो, मु, म के साथ हिस्सा तथा हित्था आदेश होते हैं (विकल्प से) ।

कृदाश्रुवचि गमि दृशिविदि रूपाणां काहं दाह सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वेच्छं । ७-१६

अर्थ—भविष्यत् काल में उत्तम पुरुष के एक वचन में कृञ् आदि के स्थान पर काहं आदि आदेश यथा क्रम होते हैं ।

श्रुत्रादीनां त्रिष्वप्यनुस्वार वर्जं हिलोपश्चवा । ७-१७

अर्थ—श्रु आदि धातुओं को तीनों पुरुषों में भविष्यत् काल में सोच्छं आदि आदेश होते हैं ।

उसुमुविध्यादिष्वेकस्मिन् । ७-१८

अर्थ—विधि आदि में एक प्रत्यय को क्रम से उ, सु, मु आदेश होते हैं ।

न्तुहमोबहुषु । ७-१९

अर्थ—विधि आदि लिंगों में बहुवचन में यथा क्रम न्तु ह् तथा मो ये आदेश होते हैं ।

वर्तमानभविष्यदनद्यतनयोर्ज्ज ज्जावा । ७-२०

अर्थ—वर्तमान भविष्यत् तथा अनद्यतन कालों में विधि आदि लिंगों में ज्ज तथा ज्जा आदेश विकल्प से होते हैं ।

मध्येच । ७-२१

अर्थ—वर्तमान भविष्यत् तथा अनद्यतन कालों में विधि आदि लिंगों में धातु तथा प्रत्यय के मध्य में ज्ज तथा ज्जा विकल्प से होते हैं ।

नानेकाचः । ७-२२

अर्थ—अनेकाच् धातुओं में मध्य में ज्ज तथा ज्जा नहीं होते पर धातु के अन्त में होते हैं ।

ईअभूते । ७-२३

अर्थ—भूत काल में धातु के प्रत्यय को ईअ आदेश होता है ।

एकाचो हीअ । ७-२४

अर्थ—भूतकाल में एकाच धातु से हीअ आदेश होता है ।

अस्तेरासिः । ७-२५

अर्थ—भूतकाल में अस् धातु को आसि यह निपात होता है ।

णिच एदादेरत आत् । ७-२६

अर्थ—णिच् प्रत्यय को एकार होता है और धातु के आदि अकार को आ होता है ।

आवेच । ७-२७

अर्थ—णिच् को आवे आदेश होता है और अ को आ भी होता है ।

आविः क्त कर्मभावेषु वा । ७-२८

अर्थ—भाव कर्म में तथा क्त प्रत्यय के परे होने पर णिच् को आवि आदेश विकल्प से होता है ।

नैदावे । ७-२९

अर्थ—क्त तथा भावकर्म में णिच् प्रत्यय को ए तथा आवे आदेश नहीं होते हैं ।

अतआमिपिवा । ७-३०

अर्थ—अकारान्त धातु से मिप् परे होने पर विकल्प से आ होता है ।

इच्च बहुषु । ७-३१

अर्थ—बहुवचन में मि तथा मिप् परे होने पर अकार को इकार तथा आकार होता है ।

क्ते। ७-३२

अर्थ—क्त प्रत्यय के परे अ को इ होता है।

एच क्त्वा तुमुन् तव्य भविष्यत्सु। ७-३३

अर्थ—क्त्वा, तुमुन् तथा तव्य प्रत्ययों में भविष्यत् काल में अ को ए तथा इ होता है।

लादेशेवा। ७-३४

अर्थ—लकारादेश में अ को ए विकल्प से होता है।

आठवां परिच्छेद

भुवोहोहुवो। ८-१

अर्थ—भू धातु को हो हुवो ये आदेश होते हैं।

क्ते हुः। ८-२

अर्थ—भू धातु को क्त प्रत्यय के परे हु आदेश होता है।

प्रादेर्भवः। ८-३

अर्थ—प्रादि उपसर्गों के होने पर भू धातु को भव आदेश होता है।

त्वरस्तुवरः। ८-४

अर्थ—जित्वरा सम्भ्रमे इस धातु को स्तुवर आदेश होता है।

क्ते तुरः। ८-५

अर्थ—क्त प्रत्यय परे होने पर तुर आदेश होता है।

घुणो घोलः। ८-६

अर्थ—घुण घूर्णभ्रमणे इस धातु को घोल आदेश होता है।

णुदो णोल्लः। ८-७

अर्थ—णुद प्रेरणे इस धातु को णोल्ल आदेश होता है।

दूङो दूमः। ८-८

अर्थ—दूङ् परितापे इस धातु को दूम आदेश होता है।

पटेः फलः। ८-९

अर्थ—पटगतौ इस धातु को फल आदेश होता है।

पदेः पालः। ८-१०

अर्थ—पद गतौ इस धातु को पाल आदेश होता है।

वृष कृष मृष हृषा मृतोऽरिः। ८-११

अर्थ—वृषादिधातुओं के ऋ के स्थान पर अरिः आदेश होता है।

ऋतोऽरः। ८-१२

अर्थ—ऋकारान्त धातु के ऋ को अर होता है।

कृञः कुणोवा । ८-१३

अर्थ—डुकृञ् करणे इस धातु के प्रयोग में विकल्प से कुण आदेश होता है

जृभो जंभाऽः । ८-१४

अर्थ—जभिजृभी गात्र विनामे इस धातु को जंभाअ आदेश होता है ।

ग्रहे र्गेण्हः । ८-१५

अर्थ—ग्रह उपादाने इस धातु को गेण्ह आदेश होता है ।

घेत् क्त्वा तुमुन् तव्येषु । ८-१६

अर्थ—क्त्वा, तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्यों के परे होने पर ग्रह धातु को घेत् आदेश होता ।

कृञः का भूत भविष्यतोश्च । ८-१७

अर्थः—भूत तथा भविष्यत् काल में कृञ् धातु को का आदेश होता है ।

स्मरतेर्भर सुमरौ । ८-१८

अर्थ—स्मृचिन्तायाम् इस धातु को भर तथा सुमर आदेश होते हैं ।

भियोभावीहौ । ८-१९

अर्थ—ञिभीभये इस धातु को भा तथा वीह आदेश होते हैं ।

जिघ्रतेः पा पाऽौ । ८-२०

अर्थ—घ्रागन्धग्रहणे इस धातु को पा तथा पाअ आदेश होते हैं ।

म्लेवाघाऽौ । ८-२१

अर्थ—म्लै हर्षक्षये इस धातु को वा तथा वाअ आदेश होते हैं (विकल्प से)

तृपस्थिपः । ८-२२

अर्थ—तृप तृप्तौ इस धातु को स्थिप आदेश होता है ।

ज्ञो जाणमुणौ । ८-२३

अर्थ—ज्ञाअवबोधने इस धातु को जाण तथा मुण आदेश होते हैं ।

जल्पेर्लोमः । ८-२४

अर्थ—जल्पव्यक्तायांवाचि इस धातु के ल को म होता है ।

ष्ठाध्यागानां ठाऽ झाऽ गाऽाः । ८-२५

अर्थ—ष्ठागति निवृत्तौ, ध्यै चिन्तायाम्, गै शब्दे इन धातुओं को क्रम से ठाअ, झाअ तथा गाअ आदेश होते हैं ।

ठाझागाश्च वर्तमान भविष्य द्विध्याद्येक वचनेषु । ८-२६

अर्थ—ष्ठा, ध्या, णा को ठा, झा, गा आदेश भी होते हैं वर्तमान भविष्यद् तथा विधि आदि एक वचन में ।

खादिधाव्योः खाधौ । ८-२७

अर्थ—खादृभक्षणे, धावृजवे इन दोनों धातुओं को खा, धा, आदेश होते हैं वर्तमान, भविष्यत् तथा विधि आदि के एक वचन में ।

ग्रसेर्विसः। ८-२८

अर्थ—ग्रसु ग्लसु अदने इस धातु को विस आदेश होता है।

चिञश्चिणः। ८-२९

अर्थ—चिञ् चयने इस धातु को चिण् होता है।

क्रिञः किणः। ८-३०

अर्थ—डुक्रीञ् द्रव्य विनिमये इस धातु को किण् आदेश होता है।

वेः क्केच। ८-३१

अर्थ—विपूर्वक क्रीञ् धातु को क्के आदेश होता है।

उदूधम उद्धुमा। ८-३२

अर्थ—धमा शब्दाग्नि संयोगयोः उत् उपसर्ग पूर्वक इस धातु को उद्धुमा आदेश होता है।

श्रदोधोदहः। ८-३३

अर्थ—श्रशब्द पूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयो' इस धातु को दह आदेश होता है।

अवाद्गाहेर्वाहः। ८-३४

अर्थ—गाहू विलोडने-अव पूर्वक इस धातु को वह आदेश होता है।

कासेर्वासः। ८-३५

अर्थ—अवउपसर्ग पूर्वक कासृ शब्द कुत्सायाम् इस धातु को वास आदेश होता है।

निरोमाङोमाणः। ८-३६

अर्थ—निर उपसर्ग पूर्वक माङ् माने इस धातु को माण आदेश होता है।

क्षियोझिज्जः। ८-३७

अर्थ—क्षि क्षये इस धातु को झिज्ज आदेश होता है।

भिदिच्छिदो रन्त्यस्यन्दः। ८-३८

अर्थ—भिदिर् तथा छिदिर् इन धातुओं के अन्त्य को न्द होता है।

कवथेर्ढः। ८-३९

अर्थ—कवथ निष्पाके इस धातु के अन्त्य को ढ होता है।

वेष्टेश्च। ८-४०

अर्थ—वेष्ट वेष्टने इस धातु के अन्त्य को ढ होता है।

उत्समोर्लः। ८-४१

अर्थ—उत् तथा सम् उपसर्ग पूर्वक वेष्ट धातु के अन्त्य को ल होता है।

रुदेर्वः । ८-२

अर्थ—रुदि र् धातु के अन्त्य को व होता है ।

उदोविजः । ८-४३

अर्थ—उत् उपसर्ग पूर्वक विज् धातु के अन्त्य को व होता है ।

वृधेर्ढः । ८-४४

अर्थ—वृधुवर्धने इस धातु के अन्त्य को ढ होता है ।

हन्तेर्म्मः । ८-४५

अर्थ—हन् धातु के अन्त्य को म्म होता है ।

रुषादीनांदीर्घता । ८-४६

अर्थ—रुष् आदि धातुओं को दीर्घ होता है ।

च्चो व्रज नृत्योः । ८-४७

अर्थ—व्रज् तथा नृत् धातु के अन्त्य को च्च होता है ।

युधिबुध्योर्झः । ८-४८

अर्थ—युधि सम्प्रहारे, बुध अवगहने इन धातुओं के अन्त्य को झ होता है ।

रुधेर्न्धम्भौ । ८-४९

अर्थ—रुधिर् धातु के अन्त्य को न्ध तथा म्भ आदेश होते हैं ।

मृदोलः । ८-५०

अर्थ—मृदक्षालने इस धातु के अन्त्य को ल होता है ।

शदॢपत्योर्डः । ८-५१

अर्थ—शदॢ शातने, पत्लृ पतने इन धातुओं के अन्त्य को ड होता है ।

शकादीनां द्वित्वम् । ८-५२

अर्थ—शक्लृ शक्तौ आदि धातुओं को द्वित्व होता है ।

स्फुटिचल्योर्वा । ८-५३

अर्थ—स्फुट विकसने, चलकम्पने इनके अन्त्य को विकल्प से द्वित्व होता है ।

प्रादेर्मीलः । ८-५४

अर्थ—प्र आदि उपसर्गों से युक्त मील् धातु को विकल्प से द्वित्व होता है ।

भुजादीनां क्त्वा तुमुन तव्येषुलोपः । ८-५५

अर्थ—भुज आदि धातुओं के क्त्वा तुमुन् तथा तव्यत् प्रत्ययों के परे अन्त्य का लोप होता है ।

श्रुहुजिलू धुवां णोऽन्त्येह्रस्वः । ८-५६

अर्थ—इन धातुओं के ऊन्त में अ का प्रयोग करना चाहिए और दीर्घ को ह्रस्व भी होता है ।

भावकर्मणोर्व्वश्च । ८-५७

अर्थ—८-५६ सूत्र में कथित धातुओं को भाव कर्म में व्व होता है और ण भी होता है ।

गमादीनां द्वित्वं वा । ८-५८

अर्थ—गम् आदि धातुओं को विकल्प से द्वित्व होता है ।

लिहेर्लिज्झ । ८-५९

अर्थ—लिह् आस्वादने इस धातु को लिज्झ आदेश होता है ।

हृ क्रो हीर कीरौ । ८-६०

अर्थ—हृ ञ् हरणे, डुकृञ् करणे इन धातुओं को हीर तथा कीर आदेश होते हैं ।

ग्रहे दीर्घोवा । ८-६१

अर्थ—भावकर्म के अर्थ में ग्रह धातु को विकल्प से दीर्घ होता है ।

क्तेन दिण्णादयः । ८-६२

अर्थ—क्त प्रत्यय के साथ दिण्ण आदि शब्द निपतित हैं ।

खिदेर्विसूरः । ८-६३

अर्थ खिद दैन्ये इस धातु को विसूर आदेश होता है ।

क्रुधेर्जूरः । ८-६४

अर्थ—क्रुध कोप ने इस धातु को जूर आदेश होता हैं ।

चर्चेश्चंपः । ८-६५

अर्थ—चर्च अध्ययने इस धातु को श्चंप आदेश होता है ।

त्रसेर्वज्जः । ८-६६

अर्थ—त्रस उद्वेगे इस धातु को वज्ज आदेश होता है ।

मृजेर्लुभसुपौ । ८-६७

अर्थ—टुमस्जो शुद्धौ इस धातु को लुभ तथा सुप आदेश होते हैं ।

बुट्टखुप्पौमस्जेः । ८-६८

अर्थ—टुमस्जो शुद्धौ इस धातु को बुट्ट तथा खुप्प आदेश होते हैं ।

दृशेः पुलअणिअक्क अवक्खाः । ८-६९

अर्थ—दृशिर् प्रेक्षणे इस धातु को पुलअ, णिअक्क तथा अ व क्ख आदेश होते हैं ।

शकेस्तरवञ्र तीराः। ८-७०

अर्थ—शक्लृ शक्तौ इस धातु को तर, वञ्र तथा तीर आदेश होते हैं।

शेषाणामदन्तता। ८-७१

अर्थ—इसी प्रकार अन्य शब्दों को भी अदन्त के समान कार्य होते हैं।

९वां परिच्छेद

निपाताः। ९-१

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे निपातों का वर्णन है।

हुँ दान पृच्छा निर्धारणेषु। ९-२

अर्थ—दान, पृच्छा तथा निर्धारण अर्थों में हुँ निपतित होता है।

विञ्र वेञ्र अवधारणे। ९-३

अर्थ—अवधारण अर्थ में विञ्र तथा वेञ्र निपतित हैं।

ओ सूचना पश्चात्ताप विकल्पेषु। ९-४

अर्थ—सूचना, पश्चात्ताप तथा विकल्प अर्थों में 'ओ' शब्द निपात संज्ञक होता है।

इर फिर किला अनिश्चिताख्याने ९-५

अर्थ—अनिश्चित आख्यान में इर फिर तथा किला निपात संज्ञक होते हैं।

हुँ क्खु निश्चय वितर्क सम्भावनेषु। ९-६

अर्थ—निश्चय, वितर्क तथा सम्भावना अर्थों में हुं तथा क्खु निपात संज्ञक होते हैं।

णवरः केवले। ९-७

अर्थ—केवल अर्थ में णवर निपात संज्ञक होता है

आनन्तर्ये णवरि। ९-८

अर्थ—आनन्तर्य अर्थ में ण वरि निपात संज्ञक होता है।

किणो प्रश्ने। ९-९

अर्थ—प्रश्नवाची में किण निपात संज्ञक है।

अब्बो दुःख सूचना सम्भावनेषु। ९-१०

अर्थ—दुःख सूचना तथा सम्भावना अर्थों में 'अब्ब' निपात संज्ञक है।

अलाहि निवारणे। ९-११

अर्थ—निवारण अर्थ में अलाहि शब्द निपात संज्ञक है।

अइ बले संभाषणे। ९-१२

अर्थ—सम्भाषण अर्थ में अ इ तथा बले निपात संज्ञक हैं।

णवि वैपरीत्ये ९-१३

अर्थ—विपरीत अर्थ में णवि निपात संज्ञक होता है।

सू कुत्सायाम्। ९-१४

अर्थ—कुत्सा या निन्दा अर्थ में सू निपात संज्ञक है।

रे अरे हिरे सम्भाषण रतिकलहा क्षेपेषु। ९-१५

अर्थ—रति, कलह तथा आक्षेप अर्थों में रे अरे तथा हिरे निपात संज्ञक हैं।

म्मिव मिवविआ स्वार्थे। ९-१६

अर्थ—इव के अर्थ में म्मिव, मिव तथा विअ निपात संज्ञक है।

अज्ज आमन्त्रणे। ९-१७

अर्थ—आमन्त्रण अर्थ में अज्ज शब्द निपतित है।

शेषः संस्कृतात्। ९-१८

अर्थ—शेष शब्द संस्कृत के अनुसार हैं।

दसवां परिच्छेद

(इस परिच्छेद में पैशाची प्राकृत का कार्य विधान किया गया है)

पैशाची। १०-१

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है।

प्रकृतिः शौरसेनी। १०-२

अर्थ—पैशाची प्राकृत की प्रकृति शौरसेनी प्राकृत है।

वर्गाणां तृतीय चतुर्थयोरयुजोरनाद्योराद्यौ। १०-३

अर्थ—वर्गों के अयुक्त तथा अनादि तीसरे तथा चौथे वर्णों को क्रमशः पहले और दूसरे हो जाते हैं।

इवस्य पिबः। १०-४

अर्थ—इव के स्थान पर पिब आदेश होता है।

णोनः। १०-५

अर्थ—ण कार के स्थान पर नकार होता है।

ष्टस्य सटः। १०-६

अर्थ—ष्ट इसके स्थान पर सट आदेश होता है।

स्नस्य सनः। १९-७

अर्थ—स्न के स्थान पर सन आदेश होता है।

र्यस्यरिअः। १०-८

अर्थ—र्य के स्थान पर रिअ आदेश होता है।

ज्ञस्यञ्ज:। १०-९

अर्थ—ज्ञ के स्थान पर ञ्ज आदेश होता है।

कन्यायांन्यस्य। १०-१०

अर्थ—कन्या शब्द में न्या के स्थान पर ञ्ज आदेश होता है।

ञ्ज च्च। १०-११

अर्थ—शौरसेनी द्वारा प्राप्त ञ्ज को च्च होता है।

राज्ञो राचि टा ङ सि ङ स् ङिषु वा। १०-१२

अर्थ—राजन् शब्द को टा, ङ सि तथा ङि में राचि आदेश विकल्प से होता है।

क्त्वस्तूनं। १०-१३

अर्थ—क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर तून आदेश होता है।

हृदयस्य हितअकं। १०-१४

अर्थ—हृदय के स्थान पर हित अकं शब्द निपतित है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

(इस परिच्छेद में मागधी प्राकृत का कार्य वर्णित है)

मागधी। ११-१

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है।

प्रकृति: शौरसेनी। ११-२

अर्थ—मागधी की प्रकृति शौरसेनी है।

षसो: श:। ११-३

अर्थ—ष तथा स के स्थान पर श होता है।

जो य: ११-४

अर्थ—जकार को यकार होता है।

चवर्गस्य स्पष्टता तथोच्चारण:। ११-५

अर्थ—चवर्ग का स्पष्ट उच्चारण होना चाहिये।

हृदयस्य हडक्क:। ११-६

अर्थ—हृदय को हडक्क आदेश होता है।

र्य र्ज यो य्य:। ११-७

अर्थ—र्य तथा र्ज के स्थान पर य्य आदेश होता है।

क्षस्य स्क:। ११-८

अर्थ—क्ष के स्थान पर स्क आदेश होता है।

अ स्मदः सौ हके हगे अह के। ११-९

अर्थ—अस्मद् के स्थान पर सु विभक्ति परे होने पर हके हगे तथा अहके आदेश होते हैं।

अत इदेतौ लु क् च। ११-१०

अर्थ—अकारान्त शब्द से सु विभक्ति परे होने पर इकार तथा एकार होता है।

क्तान्तादुश्च। ११-११

अर्थ—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से सु विभक्ति परे होने पर उकार होता है।

ङसो हो वा दीर्घत्वं च। ११-१२

अर्थ—ङस् परे होने पर हकारादेश होता है और दीर्घ भी हो जाता है।

अदीर्घःसम्बुद्धौ। ११-१३

अर्थ—अकारान्त शब्द के अकार को सम्बोधन में दीर्घ होता है।

चिट्ठस्य चिष्ठः। ११-१४

अर्थ—चिट्ठ को चिष्ठ आदेश होता है।

कृञ् मृङ् गमां क्तस्य डः। ११-१५

अर्थ—इन धातुओं के क्त प्रत्यय को ड आदेश होता है।

क्त्वो दाणिः। ११-१६

अर्थ—क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर दाणि आदेश होता है।

शृगाल शब्दस्य शिआला शिआलकाः। ११-१७

अर्थ—शृगाल शब्द के स्थान पर शिआल तथा शिआलक आदेश होते हैं।

बारहवां परिच्छेद।

(इस परिच्छेद में शौरसेनी प्राकृत का वर्णन किया गया है)

शौसेनी। १२-१

अर्थ—यह अधिकार सूत्र है।

प्रकृतिः संस्कृतम्। १२-२

अर्थ—इसकी प्रकृति संस्कृत है।

अनादावयुजो स्तथ योर्दधौ। १२-३

अर्थ—असंयुक्त तथा अनादि में वर्तमान त तथा थ को द तथा ध क्रम से होते हैं।

व्यापृते डः। १२-४

अर्थ—व्यापृत शब्द के त को ड होता है।

पुत्रेपि क्वचित्। १२-५

अर्थ - कहीं कहीं पर पुत्र शब्द के त को भी ड होता है।

इ गृधृ समेषु। १२-६

अर्थ—गृध्र के समान शब्दों में ऋ को इ होता है।

ब्रह्मण्य विज्ञ यज्ञ कन्यकानां ण्यज्ञ न्यानां ञ्जोर्वा। १२-७

अर्थ—इन शब्दों के ण्य, ज्ञ तथा न्य को विकल्प से ञ्ज होता है।

सर्व ज्ञेङ्गितज्ञयोर्णः। १२-८

अर्थ—सर्वज्ञ तथा इङ्गितज्ञ के अन्त के संयुक्त वर्ण को ण होता है।

क्त्व इअः १२-९

अर्थ - क्त्व को इअ आदेश होता है।

कृगमो दुंअः। १२-१०

अर्थ—कृ तथा गम् धातु से परे क्त्वा प्रत्यय को दुअ आदेश होता है।

णि ज्जंश शसो वा क्लीवे स्वर दीर्घश्च। १२-११

अर्थ—नपुंसक लिंग में जस् तथा शस् को णि होता है और पूर्व स्वर को दीर्घ हो जाता है।

भोभु वस्तिङि। १२-१२

अर्थ— तिङ् परे होने पर भू धातु को भो होता है।

न लृटि। १२-१३

अर्थ - लृट् लकार में भू धातु को भो नहीं होता।

ददाते र्दे दइस्स लृटि। १२-१४

अर्थ—दा धातु को लिङ् में दे आदेश होता है और लृट् लकार में दइस्स होता है।

डुकृञः करः। १२-१५

अर्थ—डुकृञ् धातु को कर आदेश होता है।

स्थश्चिट्ठः। १२-१६

अर्थ—तिङ् परे स्था धातु को चिट्ठ आदेश होता है।

स्मरतेः सुमरः। १२-१७

अर्थ—तिङ् में स्मृ धातु को सुमर आदेश होता है।

दृशः पेक्खः। १२-१८

अर्थ—दृश् धातु को तिङ् में पेक्ख आदेश होता है।

अस्तेरच्छः । १२-१९

अर्थ—अस् धातु को तिङ् में अच्छ आदेश होता है।

तिपितिथ । १२-२०

अर्थ—अस् धातु को तिप् के योग में तिथ आदेश होता है।

भविष्यति मिपा स्सं वा स्वर दीर्घत्वं च । १२-२१

अर्थ—अस् धातु को भविष्यत् काल में मिप् के साथ स्सं आदेश होता है और धातु को दीर्घ भी होता है।

स्त्रिया मित्थी । १२-२२

अर्थ—स्त्री शब्द के स्थान पर इत्थी आदेश होता है।

एवस्य जेव्व । १२-२३

अर्थ—एव शब्द को जेव्व आदेश होता है।

इवस्य विअ । १२-२४

अर्थ—इव को विअ आदेश होता है।

अस्मदो जसा वअं च । १२-२५

अर्थ—अस्मद् शब्द को जस् के साथ वअं आदेश होता है।

सर्वनामां ङेः सि त्वा । १२-२६

अर्थ—सर्व नामों को ङि विभक्ति में सित्वा आदेश होता है।

धातोर्भाव कर्तृ कर्मसु परस्मैपदम् । १२-२७

अर्थ—शौरसेनी में भाव वाच्य, कर्म वाच्य तथा कर्तृ वाच्य में परस्मैपद होता है।

अनन्त्य एच्च । १२-२८

अर्थ—अन्त्य से भिन्न वर्ण को एकार होता है।

मिपो लोटि च । १२-२९

अर्थ—लोट् लकार में मिप् को ए होता है।

आश्चर्यस्याच्चारिअं । १२-३०

अर्थ—आश्चर्य को अच्चरिअं आदेश होता है।

प्रकृत्या दोला दण्ड दशनेषु । १२-३१

अर्थ—दोला, दण्ड तथा दशन शब्दों को प्रकृतिवद् भाव (वैसे के वैसे रहना) होता है।

शेष महाराष्ट्रीवत् । १२-३२

अर्थ—शेष कार्य महाराष्ट्री के समान होता है।